

जैन दर्शन : चिन्तन - अनुचिन्तन

डॉ. रामजी सिंह

जैनदर्शन : चिन्तन-अनुचिन्तन

डॉ० रामजी सिंह

प्रथम संस्करण : अक्टूबर, १९९३

मूल्य : साठ रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनू, नागौर (राजस्थान)/
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू-३४१३०६।

JAINDARSHAN : CHINTAN-ANUCHINTAN

Dr. Ramjee Singh

Rs. 60.00

आशीर्वचन

“जैन-दर्शन : चिन्तन-अनुचिन्तन” नाम पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय की स्वयं सूचना दे रहा है। जैन दर्शन भारतीय सीमा में विकसित हुआ इसलिए कहा जा सकता है—यह भारतीय दर्शन है। इसमें प्राणी जगत् और पौद्-गलिक जगत् का सम्भवतः सर्वाधिक चिन्तन हुआ है। इस दृष्टि से इसे विश्व-दर्शन कहा जा सकता है। अनेकांत में विश्व-दर्शन की समस्त समस्याओं पर विचार किया गया है। उसका प्रतिनिधि वाक्य है :—

जावइया वयणपहा

तावइया चैव हुंति नयवाया (सन्मति तर्क)

किसी भी देश और किसी भी काल में किसी भी व्यक्ति के द्वारा किया गया विचार सत्यांश है, इस स्वीकृति ने अनेकांत को विश्व-दर्शन के सिंहासन पर आसीन किया है। मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी सिद्धि होगी, इस अवधारणा को हास्यास्पद बताकर भगवान् महावीर ने सत्य को सम्प्रदाय से बहुत ऊंचा स्थान दिया है। स्वयं सत्य की खोज करो और सबके साथ मैत्री करो—इस सूत्र वाक्य ने दर्शन को वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है।

डॉ. रामजीसिंह अध्ययनशील और चिंतनशील व्यक्ति हैं। उन्होंने दर्शन और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। प्रस्तुत पुस्तक उनके चिन्तन और वैज्ञानिक अध्ययन का स्वयं साक्ष्य है। द्वैत और अद्वैत की समस्या पर उन्होंने विस्तार से लिखा है। एकांत दृष्टि से द्वैत और अद्वैत—दोनों की प्रतिष्ठा करना अघ्रांत नहीं हो सकता। अनेकांत दृष्टि से विचार करने पर यह प्रमाणित होता है कि सर्वथा द्वैत और सर्वथा अद्वैत के लिए कोई अवकाश नहीं है। अचेतन चेतन से सर्वथा भिन्न नहीं है और चेतन अचेतन से सर्वथा भिन्न नहीं है। उनमें सामान्य गुण अधिक हैं, विशेष गुण स्वल्प हैं। सामान्य गुण उनके अद्वैत को प्रतिष्ठित करते हैं और विशेष गुण उनके द्वैत की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपाद्य विषयों का अनेकांत दृष्टि से मूल्यांकन करना नितान्त अपेक्षित है।

डॉ० रामजीसिंह ने जैन विद्वानों की कमी और जैन विद्वानों को तैयार करने की वेदना और योजना का जो प्रकल्प प्रस्तुत किया है, उस पर दार्शनिक जगत् को और विशेषतः जैन समाज को गम्भीर चिंतन करना चाहिए। उनका चिन्तन है—‘यह शुभ लक्षण है कि सदियों के बाद जैन-

चार

विद्या और अहिंसा को संस्कृत का आर आकर्षण बढ़ रहा है लकिन साथ-साथ यह दुर्भाग्य है कि जैन-विद्या के विद्वानों की आज बड़ी कमी है। अतः सामान्य रूप से भारतीय समाज का और विशेष रूप से जैन समाज का यह दायित्व है कि जैन-विद्या, प्राकृत, अनेकांत और अहिंसा आदि के विद्वानों को तैयार किए जाये। दो वर्षों में ४-५ विद्वान् भी तैयार किये जा सकें तो सार्थकता सिद्ध होगी। जैन केन्द्रों में जैन विश्व भारती अपने विद्वानों को भेजकर एक सांस्कृतिक-क्रांति का श्रीगणेश करे। यही नहीं जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय इस स्तर का बने ताकि दूसरे-दूसरे देशों के विद्यार्थी भी यहां आ सकें। प्रशिक्षण और प्रयोग को भी यहां प्राथमिकता मिलनी चाहिए ताकि एक आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की यह कार्यशाला बन जाये। इसलिए जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय के लाभ-हानि का तलपट वर्ष ओर महीने का नहीं, कम से कम एक शताब्दी का बनना चाहिए।'

आकार में छोटी किन्तु प्रकार में बृहत् पुस्तक जैन दर्शन के अनेक पार्श्वों और परिपार्श्वों की जानकारी देने में उपयोगी बनेगी, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

आचार्य तुलसी
युवाचार्य महाप्रज्ञ

अपनी बात

जैन दृष्टि प्रारम्भ से ही अन्तर्मुख रही है। यही इसकी शक्ति भी है, यही इसकी कमी भी रही है। यही कारण है कि आधुनिक युग में भी जैन-दर्शन पर कोई प्रामाणिक किन्तु साथ-साथ समीक्षात्मक ग्रंथ का प्रणयन नहीं हुआ है। राष्ट्रभाषा में तो स्व. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य के "जैन दर्शन" में जो कमियां रही हैं, उन्हें भी पूर्ण करने का प्रयास नहीं हुआ है। प्रवचनों के संकलन दर्शन के मूलग्रंथ नहीं हो सकते।

जैन-जीवन दृष्टि पर श्रद्धा के कारण विगत ३० वर्षों से जैन-दर्शन से थोड़ा बहुत सम्बन्ध रहा है। लेकिन श्रद्धा एवं वैचारिक मूल्यांकन में मुझे कभी विरोध नहीं दीखा। जैसे, मुझे अनेकांत-दृष्टि अपनी जीवन-दृष्टि लगती है क्योंकि यह अहिंसात्मक दृष्टि है। लेकिन अनेकांत स्थापना के लिये जो शास्त्रीय तर्क दिये गये हैं, वहीं स्थिर रहना सृजनात्मकता को खंडित करना है। उसी तरह व्यक्तिगत अहिंसा के साथ "संरचनात्मक या सामाजिक अहिंसा" के बिना अहिंसा-विचार निर्जीव रहेगा। अपरिग्रह व्यक्तिगत-धर्म से कहीं अधिक सामाजिक धर्म है। सर्वज्ञता-सिद्धि के लिये शास्त्रीय प्रमाण को पूर्णविराम मान लेने से विचार का विकास क्रम रुकेगा।

मेरा मानना है कि जैन-दर्शन का विकास अवरुद्ध-सा हो गया है। जब तक पुरानी स्थापनाओं के लिये नये तर्क या उनके युक्तियुक्त खंडन का साहस नहीं होगा, सृजनात्मक साहित्य का आविर्भाव नहीं होगा। अभी तो तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक साहित्य का भी अभाव है।

इस पुस्तक के लेख फैले समय में लिखे गये हैं, फिर भी प्रयास रहा है कि श्रद्धा को शक्ति मिले, बौद्धिकता खंडित न हो और थोड़ी बहुत सृजनात्मकता भी आ जाए।

मैं जैन विश्वभारती परिवार एवं प्रेस का बहुत ऋणी हूँ कि इन पृष्ठों को छापकर उन्हें प्रकाश में लाया।

परम पूज्य युवाचार्य महाप्रज्ञ ने इसे छपने के योग्य माना, इसे मैं उनका आशीर्वाद मानता हूँ।

रामजी सिंह, कुलपति,
जैन विश्व भारती संस्थान,
लाडनूँ (राज०)

अनुक्रम

० ज्ञान एवं प्रमाण

- | | |
|---|----|
| १. ज्ञान की सीमार्ये और सर्वज्ञता की सम्भावनार्ये | ३ |
| २. जैन-न्याय में हेतु-लक्षण : एक अनुचिन्तन | २६ |
| ३. आगम का गंगावतरण | ३६ |

० तत्त्व-दृष्टि

- | | |
|--|----|
| ४. जैन-दर्शन का वैशिष्ट्य | ४१ |
| ५. युक्त्यनुशासन का सर्वोदय-तीर्थ | ४७ |
| ६. जैन-दर्शन में अद्वैतवादी प्रवृत्तियां | ५९ |
| ७. जैन धर्म में आस्तिकता के तत्त्व | ७२ |

० व्यवहार-दृष्टि : अहिंसा और अपरिग्रह

- | | |
|---------------------------------------|-----|
| ८. आधुनिक युग एवं अपरिग्रह | ७९ |
| ९. अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं एवं आचारो | ९० |
| १०. मानव समाज एवं अहिंसा | ९७ |
| ११. अपरिग्रह के बिना अहिंसा असम्भव | ११० |
| १२. निरामिष आहार का दर्शन | ११३ |
| १३. निरामिष आहार और पर्यावरण | १२२ |

० समाज एवं संस्कृति

- | | |
|--|-----|
| १४. समन्वय की साधना में जैन-संस्कृति का योगदान | १२९ |
| १५. विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय | १३८ |
| १६. जनतन्त्र और अहिंसा | १४६ |
| १७. महावीर और गांधी | १५७ |

० जैन विश्वभारती का नख—शिख-दर्पण

- | | |
|---|-----|
| १८. जैन विश्वभारती की वर्णमाला | १६३ |
| १९. जैन विश्वभारती : अहिंसा की प्रतिध्वनि | १६७ |
| २०. जैन विश्वभारती बनाम जैन विश्वभारती | १७४ |

० परिशिष्ट

१८०-१८९

खण्ड-१
ज्ञान एवं प्रमाण

ज्ञान की सीमायें और सर्वज्ञता की संभावनायें

१. ज्ञान विस्तार : एक मानवीय आकांक्षा

यह ठीक है कि आधुनिक विचारक सर्वज्ञता की मान्यता या संभावनाओं पर विचार करना तो दूर रहा इसे अंधविश्वास पर आधारित अत्यन्त अप्रौढ़ चिंतन से उद्भूत उपहास एवं परिहास का विषय मानते हैं, दूसरी ओर इसके समर्थक उन्हीं निर्जीव युक्तियों का निःसार पुनरावर्तन कर रहे हैं जिनका परम्परागत बुद्धिवाद के इतिहास में चाहे जो भी मूल्य रहा हो आज के वैज्ञानिक जगत् में कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा है, फिर भी यदि सर्वज्ञता का विचार मानवीय आकांक्षाओं पर आधारित है तो यह एक समस्या के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है ही ।

संभवतः मानवीय ज्ञान का विकास मानवीय सभ्यता के विकास का भी मापदंड रहा है क्योंकि “हमारे ज्ञानान्तर्गत सत्य का मूल्य न केवल सत्य के हमारे मैट्रिक्स परिज्ञान के लिये महत्त्वपूर्ण है बल्कि इसका सम्बन्ध विभिन्न क्षेत्रों में हमारे व्यक्तिगत जीवन एवं आचरण से भी रहा है।”^१ इसीलिये मानव सृष्टि के आरम्भ से ही अपने ज्ञान की सीमा के विस्तार के लिये प्रयत्नशील रहा है । इसीलिये तो ज्ञान केवल ज्ञान के लिये ही नहीं बल्कि जीवन और जीवन-संघर्ष के आवश्यक उपकरण के रूप में भी रहा है । भारतीय प्रमाण-शास्त्र के इतिहास में प्रमाण-संख्या की क्रमिक अभिवृद्धि भी ज्ञान-विस्तार की इसी मानवीय चेष्टा की ओर एक गर्भित संकेत है । इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विस्तृत अभिक्रम मानवीय अन्तराल की ज्ञान-विस्तार की असीम बुभुक्षा एवं पिपासा प्रमाणित करता है । संक्षेप में, हम यह निवेदन कर सकते हैं कि ज्ञान के विस्तार का यह निरन्तर प्रयास एक शाश्वत मानवीय आकांक्षा या एक आधारभूत प्रवृत्ति के रूप में रहा है ।

२. व्यवधान और विकार

जहां एक ओर मानव अपने ज्ञान विकास के लिये^२ इस प्रकार अबाध

१. Gustava Weigel and Arthur G. Madden : ‘ Knowledge : Its Values and Limits.’ Englewood Cliffs., 1991, Preface.

२. चार्वाक-प्रत्यक्ष; वैशेषिक-प्रत्यक्ष तथा अनुमान; सांख्य-बौद्ध-प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द; न्याय-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द; मीमांसा-प्रत्यक्ष,

गति से अपना उपक्रम कर रहा है, दूसरी ओर अज्ञान और संशय के रूप में कुछ प्रतिगामी वृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर हो रही हैं। अनुभववाद जहाँ इन्द्रिय की सीमा का उल्लंघन नितान्त निषिद्ध मानता है वहाँ बुद्धिवाद मानवीय मस्तिष्क की लक्ष्मण रेखा में ही आबद्ध है—जो नितान्त अविहित तो है ही, साथ-साथ इसमें उच्चतर ज्ञान के गवाक्षों की भी उपेक्षा है। इसीलिए यदि एक संशयवाद और अज्ञेयवाद को जन्म देता है तो दूसरे से ज्ञान में जड़ता एवं अप्रगतिशीलता का दोष उत्पन्न होता है। भारतीय संशयवादी संजय को इसलिए “कायर बुद्धिवादी” की हीन संज्ञा से विभूषित किया गया है क्योंकि मानवीय चित्त की निर्णयभूमि पर सार्वत्रिक अनिश्चयता के कारण बौद्धिक जड़ता एवं निर्णय-हीनता को प्रश्रय मिलता है।^१ अज्ञानवाद हमारे ज्ञान के लिये पूर्वनिश्चित सीमाओं का निर्धारण ही नहीं करता बल्कि ज्ञान के विषय में मनोविज्ञान की भ्रान्त धारणा के कारण ज्ञान की समस्त संभावनाओं को ही तिलांजलि दे देता है^२।

३. ज्ञान की सीमायें : समस्यायें और समाधान

ज्ञान की सीमा की समस्या भयानक रूप से विवादास्पद है। विज्ञान के चमत्कार से प्रभावित व्यक्तियों की सीमाओं के निर्धारण की चेष्टा ही एक परम्परागत भ्रामक धर्मसापेक्षी दार्शनिक विचारधारा का परिणाम दीखता है, और आज के वैज्ञानिक युग में जबकि किसी भी तत्त्व को न स्थिर ही माना जा सकता है न तत्त्वज्ञान को पूर्णतया निश्चित एवं सत्य, तत्त्व ज्ञान की सीमाओं का निश्चित निर्धारण ही असंभव लगता है।^३ ‘सर्वज्ञ’ शब्द का प्रयोग मात्र परम्परागत एवं अंधविश्वास-पूर्ण कहा जाता है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित विचारक एक ओर यदि ‘असीम’ या ‘अंतिम-ज्ञान’ की कल्पना को मिथ्यात्व बताता है तो दूसरी ओर अज्ञान के अंधकार को नष्ट करने के लिये सतत यत्नशील रहने की आशावादी प्रेरणा प्रदान करता है। ज्ञान मानव की प्रवृत्ति एवं समाज के सम्बन्धों के ऐतिहासिक विकास का सतत उन्मुख सिद्धान्त है। प्रकृति का कोई रहस्य ऐसा नहीं

अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति; वेदान्त-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि : आदि पुराणों में प्रमाण माने गये हैं।

१. Barua, B.M. A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy, Cal. Univ. 1921, pp. 330-1.

२. Ladd, L.T : Knowledge, Life and Reality, Yale Uni. 1918, pp. 100-1.

३. डा० अजित कुमार सिन्हा कृत निबन्ध “ज्ञान की सीमायें”—दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६३, पृ० २३४।

जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती^१। श्रुतिपरक प्रमाणवादी विचारक मात्रात्मक या प्रकारात्मक दृष्टियों से तो ज्ञान की सीमा स्वीकार करते हैं किन्तु मूल्यात्मक दृष्टि से सर्वज्ञता की संभावना पर जोर देते हैं।^२ उदाहरण स्वरूप, उपनिषदों में “जहां सर्वज्ञान की बात कही गयी है वहां मात्रा की दृष्टि से नहीं मूल्य की दृष्टि से कही गयी है। सर्वज्ञान का अर्थ है तत्त्वज्ञान।”^३ आधारणात्मक विश्लेषणवादी दृष्टिकोण से ज्ञान की सीमा के प्रश्न का अर्थ है कुछ परिभाषित अज्ञेय क्षेत्र को स्वीकार करना। अज्ञेय चिन्त्य एवं अचिन्त्य दोनों हो सकता है। अतः “ज्ञान की सीमा का प्रश्न व्यक्ति या समाज की, अथवा वास्तविक या संभाव्य सीमा का प्रश्न नहीं है, और न ऐतिहासिक विकास-क्रम का है, यह अज्ञेयता का प्रश्न है।”^४ जैन दार्शनिक जिस समय आत्मा के अन्तर्गत अनन्तचतुष्टय को स्वीकार कर “अनन्त ज्ञान” को स्वीकार कर लेता है, उसी समय ज्ञान की सीमाओं का निराकरण हो जाता है। ऐन्द्रियिक ज्ञान की सीमा अवश्य मानी गयी है किन्तु वह तो परोक्ष ज्ञान माना गया है, प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञान की कोई भी सीमा नहीं है। अतः जैन दर्शन ऐन्द्रियिक स्तर पर ज्ञान की सीमा को स्वीकार करता हुआ भी अनुभव से उत्पन्न अवश्यम्भावी संशयवाद एवं अज्ञेयवाद से बचता है। अतः यहाँ वास्तववाद एवं आदर्शवाद दोनों का समन्वय है। ज्ञान का स्तर-भेद केवल भारतीय प्रमाणशास्त्र को ही स्वीकार्य नहीं बल्कि अन्य विचारकों को भी है^५। ज्ञानात्मक दृष्टिकोण सर्वव्यापक है, इसीलिये हमारे ज्ञान की सीमा वस्तुतः हमारे द्वारा ही निर्धारित होती है^६। ज्ञानात्मक चेतना तो सीमित है ही क्योंकि हम अपने सामने असंख्य दृश्यमान तत्त्वों में से किसी

-
१. डा० धीरेन्द्र कृत निबंध “ज्ञान-मीमांसा की नई व्याख्या”—दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर, १९६३, पृ० २२६।
 २. डा० रमाकांत त्रिपाठी कृत निबंध “ज्ञान की सीमायें”—दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर, १९६३-६४, पृ० २२२।
 ३. वही, पृ० २१२।
 ४. यशदेव शल्य कृत आलोचना “ज्ञान की सीमायें”—दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल, १९६४, पृ० १०-२।
 ५. Gustava Weigel and Arthur Madden : Knowledge : Its Value and Limits, Cliffs, 1961 p. 29. Five levels of knowledge.
 ६. A. Sinclair : The conditions of knowing, Routledge and Kegan Paul, Lond. 1951, p. 13.

एक पर ही सोचते हैं^१। जो भी हो, ज्ञान तो सापेक्ष एवं सीमित है ही। लेकिन ज्ञान की यह सीमा इसके प्रामाण्य एवं प्रकृष्टता, परिधि—चैतन्य एवं इसके अनुमान की सत्यता की अपेक्षा से है। ये सीमार्यें विगत तीन दशक पूर्व आज की अपेक्षा अत्यन्त संकुचित थीं। संक्षेप में, मानवीय ज्ञान का सत्य के साथ धीरे-धीरे अधिक निकट सम्बन्ध हो रहा है^२। इसीलिये सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि सभी संभाव्य ज्ञान मानवीय सीमा एवं शक्ति के अन्तर्गत है।^३

४. सर्वज्ञत्व का अर्थ

(क) व्युत्पत्ति

पाणिनि 'सर्वज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति "इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः"^४ सूत्र से है। "वाचस्पत्यम्"^५ ने सर्वज्ञता का अर्थ "सर्वं जानाति" से जोड़ते हुए इससे सूचित होने वाले पांच अर्थों का संकेत किया है। मोनाइर एण्ड मोनाइर विलियम्स^६ ने भी प्राचीन साहित्य में सर्वज्ञता सम्बन्धी लगभग तीस अवतरणों को उद्धृत किया है। "शब्द कल्पद्रुम"^७ में सर्वज्ञता के तीन अर्थ और दिये गये हैं यथा शिवि, बुद्ध और विष्णु। प्रिसिपल आप्ते कृत "संस्कृत कोष"^८ का विचार "वाचस्पत्यम्" से ही मिलता है। संस्कृत "सर्वज्ञता" का पाली पर्याय "सव्वराणुता" या "सव्वराणु" है क्योंकि पाली व्याकरण^९

१. Saswitha, "Principles of Thinking" in Proceedings of International Philosophical Congress, Brussels Vol. II, 1953 p. 59.
२. Ladd, G.T. Knowledge, Life & Reality, Yale Univ., 1918, p. 100.
३. Charles, H.L. "The Revolt Against Epistemology", in Proceedings of International Philosophical Congress, Brussels, 1953, Vol. II, p. 73. (श्री अरविन्द के लाइफ डिव्वाइन से उद्धृत)।
४. अष्टाध्यायी, ३-१-१३५।
५. तर्क-वाचस्पति तारानाथ भट्टाचार्य कृत, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२, भाग-६, पृ० ५२५८।
६. Sanskrita-English Dictionary, Oxford, 1956 p. 1185.
७. राजा सर राधाकान्त देव सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१, भाग ५, पृ० ३०३।
८. P.K. Gode & G.C. Karve (Edited), Prasad Prakashana, Poona, 1959, p. 1656.
९. (Ed.) Rhys Davids T.W. & Stede William, Pali Text Society, 1921, pp. 139-40.

के अनुसार यदि कर्म से परे “आ” धातु आवे तो “कृ” प्रत्यय होता है, जैसे “जानाति इति सव्वराणु^१ ।” अर्द्ध मागधी कोष^२ में भी सर्वज्ञता का ‘अर्द्ध-मागधी’ पर्याय पाली से मिलता जुलता है। प्राकृत-महाकोष “अभिधान राजेन्द्रः” में सर्वज्ञता का प्राकृत पर्याय “सव्वज” या “सव्वराणु” केवल ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है।^३ वहाँ इसके दो अर्थ बताये गये हैं—सामान्य (सर्वज्ञ) और विशेष (सभी द्रव्यों को पर्यायों सहित जानना)।

अर्थ विश्लेषण

“सर्वज्ञता” शब्द का यदि वस्तु वाचकता के अर्थ में व्यवहार हो तो इसका अर्थ है “संख्यात्मक, परिमाणात्मक दृष्टि से सभी वस्तुओं का ज्ञान।” गुणवाचकता के अर्थ में ‘सर्वज्ञता’ का अर्थ सार तत्त्वों का परिज्ञान होगा। किन्तु “सार तत्त्वों का परिज्ञान” भी दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है—तत्त्वज्ञता और मार्गज्ञता या धर्मज्ञता। मीमांसक ‘सर्वज्ञता’ शब्द के पांच अर्थों को बतलाते हुए इनमें से किसी के साथ भी अपना विरोध नहीं बताते, यथा (क) सर्वज्ञ शब्द का ज्ञान, (ख) इस नश्वर जगत् के समस्त पदार्थों का ज्ञान, (ग) सार तत्त्वों का ज्ञान, (घ) अपने दृष्टिकोण एवं अपनी परम्परा के अनुसार चरम तत्त्वों का परिज्ञान, (ङ) सभी ज्ञेय एवं प्रमेयों का ज्ञान। मीमांसक तो केवल धर्मज्ञता के अर्थ में प्रयुक्त दैवी या मानुषी सर्वज्ञता का विरोध नहीं करते हैं क्योंकि धर्म के विषय में वेद का ही एकमात्र अधिकार स्वीकार किया गया है।^४ सर्वज्ञता शब्द का अर्थ तब तक पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होगा जब तक हम यह भी विचार नहीं कर लें कि सर्वज्ञ है कौन? सर्वज्ञ या तो कोई अलौकिक व्यक्ति या देवता होगा या कोई लौकिक। अलौकिक पुरुष या देवता में भी एक ओर तो परम पुरुष भगवान् की सर्वज्ञता का वर्णन मिलता है, दूसरी ओर किसी देव विशेष या पैगम्बर विशेष की चर्चा रहती है। फिर लौकिक सर्वज्ञता की भी मुख्यतया तीन श्रेणियां हो सकती हैं—मानवीय, योगी और मानवेतर।

५. भारतीय दर्शन में सर्वज्ञ-विचार की भूमिकायें

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वज्ञ-विचार के मुख्यतः तीन विरोधी रहे हैं—वैदिक मीमांसक (जो अन्य सभी अर्थों में सर्वज्ञता को भले ही स्वीकार करें किन्तु धर्मज्ञता के अर्थ में स्वीकार नहीं करते), भौतिकवादी, चार्वाक एवं संशय एवं अज्ञानवादी। बाकी सबने सर्वज्ञता के विचार को स्वीकार

१. जगदीश काश्यप कृत पालि महाव्याकरण, सारनाथ, १९४०, पृ० ६२।

२. मुनि रतनलाल (स.) लिबिड़ी, १९३२, भाग-४, पृ० ६९२।

३. विजय राजेन्द्रसूरि (सं.) भाग-६, पृ० ५८५।

४. शांतिरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह-कारिका ३१२८-३१३३ (कुमारिल के वचन)

किया है जिसकी प्रायः छः भूमिकायें हो सकती हैं :—

(क) वेदों की प्रार्थनात्मक भूमिका

यहां देव-सर्वज्ञत्व का सिद्धान्त स्वीकार कर देवताओं की प्रशंसात्मक प्रार्थनायें प्रस्तुत की गयी हैं। सम्पूर्ण वेदों में 'सर्वज्ञ' या 'सर्वज्ञत्व' शब्द एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं किन्तु इनके अनेक पयाय, जैसे: विश्ववेदस्^१, विश्ववित्^२, विश्वानिविद्वान्^३, सर्ववित्^४ आदि आये हैं।

(ख) उपनिषदों की आत्मज्ञता की भूमिका

उपनिषद्-दर्शन का मूल तत्त्व आत्मा है अतः सर्वज्ञ का अर्थ आत्मज्ञ माना गया है। "आत्मानं विद्धि"^५ ही इसका मूलमंत्र है। १२० उपनिषदों में ३१ बार सर्वज्ञता शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(ग) धर्म शास्त्रान्तर्गत धर्मज्ञता की भूमिका

स्मृतियों एवं पुराणों में ही नहीं महाभारत एवं रामायण में भी धर्मज्ञता का महत्त्व बताया गया है।^६ इन शास्त्रों में सर्वज्ञता का अर्थ प्रायः धर्म के सभी सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान है। साथ-साथ यह देव-सर्वज्ञता का भी वर्णन है। जैनागमों^७ में भी कहीं-कहीं 'सर्वज्ञता' एवं 'धर्मज्ञता' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रज्ञाकार गुप्त^८ ने भी सुगत को सर्वज्ञ एवं धर्मज्ञ दोनों माना है जिसका शांतरक्षित^९ ने भी समर्थन किया है।

(घ) बुद्धिवादी भूमिका

बौद्धों में शांतरक्षित एवं प्रज्ञाकर गुप्त तथा जैनों में उमास्वामी, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक देव, अभयदेव सूरि, हरिभद्र,

१. ऋग्वेद १/२१/१; सामवेद १/१/३।
२. अथर्ववेद १/१३/४, ऋग्वेद १०/९१/३।
३. ऋग्वेद ९/४/८५, १०/११२/२।
४. अथर्ववेद ७, I. ११।
५. जातवेदस्—अथर्व. १/७/२; १/७/५; १/८/२; २/१२८; २/२९२ आदि, सहस्राक्ष—अथर्व २/२८/३; सामवेद ३/१/१, यजुर्वेद ३९/९, विश्वचक्षु—ऋग्वेद १०/८१/३, विश्वद्रष्टा:—अथर्व ९/१०७/४।
६. बृहदारण्यक ४/५/६।
७. छान्दोग्य ७/१/१; ६/१/१-३; बृहद् ३/७/१; मुंडक १/१/३९।
८. महाभारत—शांतिपर्व ५५/११ से आगे।
९. षड्खंडागम सूत्र ७८ (अमरावती प्रकाशन)।
१०. प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३२९।
११. तत्त्व-संग्रह-का. ३३२९।

विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, वादिदेवसिंह सुरि, मल्लिसेन, धर्मभूषण, यशोविजय आदि अनेक विद्वानों ने सर्वज्ञता को सिद्धि के लिए प्रमाण दिये हैं। मीमांसकों के द्वारा खंडन एवं जैन-बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा प्रत्युत्तर भारतीय बुद्धिवाद का एक उज्ज्वल अध्याय है। हां, इसमें साम्प्रदायिक प्रतियोगिता का भाव भी कम नहीं है।

(ब) श्रद्धा एवं बुद्धि की समन्वयवादी भूमिका

जैनों ने आगम एवं तर्क, हृदय एवं मस्तिष्क दोनों का समन्वय करते हुए सर्वज्ञता की मान्यता को एक धार्मिक एवं ताकिक आवश्यकता के रूप में महसूस किया है। भगवान् महावीर की सर्वज्ञता जैन धर्म के लिये श्रद्धा स्वरूप स्वीकार्य है लेकिन मानवीय सर्वज्ञता की संभावना के लिये विशुद्ध बुद्धिवादी तर्क प्रस्तुत किये गये हैं।

(छ) योगशास्त्र की भूमिका

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, तंत्र-सहित्य आदि में हम योग-शास्त्र की चर्चा पाते हैं जिसमें यौगिक नियमों से सिद्धियों की प्राप्ति बताया गयी है। न्याय-वैशेषिक ने तो अलौकिक प्रत्यक्ष^१ की चर्चा की है लेकिन पतंजलि^२ ने सर्वज्ञता की स्पष्ट चर्चा की है। आधुनिक परामर्शविद्या का भी इस ओर संकेत सारगाभित है।^३

६. शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञ-सिद्धि

मीमांसकों ने शास्त्रान्तर्गत षड प्रमाणों के बल पर सर्वज्ञभाव की सिद्धि का प्रबल प्रयास किया है किन्तु जैन दार्शनिकों ने भी उसी सूक्ष्मता के साथ खंडन कर सर्वज्ञ सिद्धि की है जिसका विशेष व्यवस्थित एवं विशद विवेचन अष्टसहस्री, न्यायकुमुदचंद्र, एवं प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड इन तीन जैन-न्याय के ग्रन्थों में हुआ है। अतः मीमांसा का पूर्व पक्ष एवं जैनों का उत्तर पक्ष अवलोकनीय हैं।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष अतीन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है और वह केवल सम्बद्ध, वर्तमान एवं प्रतिनियत रूपादिगोचर होता है।^४ जैनों का कहना है कि योगी

१. तर्क कौमुदी पृ० ९; विश्वनाथ का भाषा परिच्छेद अधिकरण ३; पदार्थ धर्म संग्रह पृ० १९५।

२. योगसूत्र १.२; ३.४९; ४.२९।

३. जे०बी० राइन, जी०एन०एम० टीरल, एच०एच० प्राइस, चार्ल्स, रिचेट, टीचनर, वेस्ट, मेयर आदि के नाम प्रख्यात हैं।

४. मीमांसा श्लोक वार्तिक सूत्र २ पृ० ८१; तत्त्व-संग्रह-का. ३१८६।

प्रत्यक्ष सर्वज्ञता का या तो क्वचित् कदाचित् बाधक होगा या सर्वत्र सर्वदा बाधक होगा। यदि क्वचित् कदाचित् बाधक मानें तो इसमें जैनों को कोई आपत्ति नहीं क्योंकि वे भी यह नहीं कहते कि सर्वज्ञता का ज्ञान सदा सर्वदा रहता है, किन्तु यदि योगी प्रत्यक्ष को सदा सर्वदा बाधक मान लें तो यह सदा सर्वदा जानने वाला तो स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। साधारण प्रादेशिक ज्ञान से सकल देशवर्ती ज्ञान, यानी सर्वज्ञता का खंडन, नहीं हो सकता।^१ प्रत्यक्ष की निवृत्ति से यदि उसका अभाव सिद्ध करें^२ (क्योंकि स्वप्न में भी हम सर्वज्ञ को नहीं देखते) तो यह गलत होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष सर्वज्ञता के ज्ञान का न तो कारण है न व्यापक है। प्रत्यक्ष के अभाव में भी वस्तु रहता है और प्रत्यक्ष की निवृत्ति से भी वस्तु विद्यमान रहता है। फिर मीमांसकों को यह पूछा जा सकता है कि सर्वज्ञताभाव केवल अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति से सिद्ध करते हैं या सभी के प्रत्यक्ष से? यदि केवल अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति से ही सिद्ध करते हैं तो यह गलत होगा क्योंकि जिन सूक्ष्म, अन्तरित या दूरस्थ वस्तुओं का भी हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है वे भी चीजें रहती हैं। किन्तु वे यदि सब के प्रत्यक्ष की निवृत्ति से इसको सिद्ध करते हैं तो यह “सब” के प्रत्यक्ष को जानने वाला स्वयं सर्वज्ञ होगा।

(ख) अनुमानः

मीमांसकों के अनुसार सर्वज्ञत्व की सिद्धि अनुमान से भी संभव नहीं क्योंकि लिंग-लिंगी अविनाभाव सम्बन्ध नहीं। सर्वज्ञ के साथ स्वभाव या कार्यहेतु, दोनों असिद्ध हैं।^३ सर्वज्ञ का किसी के साथ कार्य नहीं पड़ता। अतः अनुमान प्रमाण भी लागू नहीं होगा।

जैन दार्शनिक विकल्प-पद्धति से तर्क उठाते हुए पूछते हैं कि मीमांसक सर्वज्ञ की “असत्ता” सिद्ध करना चाहते हैं या उसकी “असर्वज्ञता”। यदि सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध करना चाहते हैं तो वे अनुपलम्भ, विरुद्ध-विधि और वक्तृत्व इन्हीं तीनों को अपना हेतु मानेंगे।^४ अब यदि अनुपलम्भ हेतु माना जाय तो यह कार्य व कारण या व्यापक सम्बन्धी होगा। फिर यह अनुपलम्भ या तो स्व-सम्बन्धी होगा या सर्व-सम्बन्धी। माना कि यह स्व-सम्बन्धी है तो वह निर्विशेषण होगा या सविशेषण।^५ यदि निर्विशेषण माना गया तो सर्वज्ञभाव सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सामान्य प्रत्यक्ष से पर-चित्त का ज्ञान

१. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ८९।

२. तत्त्व-संग्रह-कारिका ३२७१-३।

३. तत्त्व-संग्रह पृ० ८३१।

४. स्याद्वाद रत्नाकर ३८२।

५. तत्त्व-संग्रह पृ० ८५०।

संभव नहीं, अतः दूसरे के चित्त का अभाव हो जाएगा। यदि सविशेषण माना जाए तो इसमें सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध हो जाएगा लेकिन इस तरह सर्वज्ञ सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाला स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। लेकिन यदि अनुपलम्भ स्व-सम्बन्धी न होकर सर्व-सम्बन्धी हो तो भी यही दोष उठेगा। सब की सर्वज्ञ सिद्धि का अभाव तो स्वयं सर्वज्ञता है।^१

“कार्यभाव” से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि धर्मादि अशेष पदार्थों के प्रतिपादक आगम तो उसके कार्यरूपी देखे ही जाते हैं। हां मीमांसक आगम की अपौरुषेयता का सिद्धान्त मानते हैं जिसे जैनों ने खंडन किया है। व्यापकाभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वज्ञ का व्यापक “सर्वसाक्षात्-कारित्व” है, “सर्वार्थ परिज्ञान” नहीं।^२ आत्मा का सकल पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव है और प्रतिबन्धक कारणों के क्षय हो जाने से सर्वज्ञता सहज संभव है।

अब विरुद्ध-विधि (साक्षात् या परम्परा विरोध) से भी सर्वज्ञाभाव संभव नहीं।^३ पहले हम साक्षात् विरोध को लेते हैं तो वह विरोध यदि क्वचित् कदाचित् है तो इसके सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं होती और यदि सर्वज्ञ सर्वदा विरोध हो तो सर्वज्ञता स्वयं सिद्ध हो जाती है। परम्परा विरोध या तो सर्वज्ञ के व्यापक या कारण या कार्य के साथ होगा। यदि विरोध व्यापक का है तो वह या तो क्वचित् कदाचित् होगा या सर्वत्र-सर्वदा का विरोध होगा। इसमें भी उपर्युक्त तर्क लागू होंगे। लेकिन विरोध यदि कारण का हो और वह क्वचित् कदाचित् हो तो उसमें सर्वज्ञ सर्वदा का विरोध नहीं किन्तु यदि सर्वज्ञ सर्वदा विरोध मानें तो यह असंभव है क्योंकि सर्वज्ञता का कारण है ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय और इसका विरोध है इसका क्षय नहीं होना, तो यह किसी आत्मा में तो रह ही सकता है लेकिन सभी में नहीं।

कार्य विरोध भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सर्वज्ञ का कार्य विरोध जानने वाला कोई आत्मज्ञ ही होगा और वह एकाध स्थान पर ही इसके कार्य का विरोध देख सकता है, सर्वज्ञ नहीं।

वक्तृत्वादि हेतु के कारण भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता।^४ यदि

१. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ८१।

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० २५३-२५४।

२. प्रमेय रत्नमाला पृ० ५४।

स्याद्वाद रत्नाकर पृ० ३७०।

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० ७०।

३. तत्त्व-संग्रह पृ० ८५३; स्याद्वाद रत्नाकर पृ० ३८२।

४. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ९३।

कोई कहे कि वक्ता होने के कारण ही कोई सर्वज्ञ नहीं है तो यह स्ववचन विरोध है। जिस तरह सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध करने में स्ववचन विरोध है उसी प्रकार असर्वज्ञता सिद्ध करने में भी है क्योंकि जो यह कहेगा कि सब असर्वज्ञ हैं, वह तो स्वयं सर्वज्ञ सिद्ध हो जायेगा। वक्ता प्रमाण-विरोधी, प्रमाण-संगत या सामान्य तीन प्रकार के माने जाते हैं। यदि प्रमाण विरोधी वक्ता को मानें तो यह असिद्ध होगा क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् असत्य वचन नहीं कर सकते।^१ यदि प्रमाण-संगत मानें तो सर्वज्ञ भी मानना होगा क्योंकि असर्वज्ञ ही प्रमाण-विरुद्ध बोलेगा। सामान्य-वक्ता मानने से हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा। यदि कोई कहे कि सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं तो फिर कोई सर्वज्ञ वक्ता ही नहीं। विपक्ष से व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता इसीलिये निषेध का प्रश्न ही निरर्थक है। हां, रथ्याप्रभ में असर्वज्ञत्व एवं वक्तृत्व दोनों गुणों का समावेश कर व्यतिरेक बना लिया जाए तब पुनः स्ववचन विरोध होगा, क्योंकि सब पुरुषों की असर्वज्ञता में तो रथ्याप्रभ भी शामिल था। संक्षेप में, वक्तृत्वहेतु से सर्वज्ञताभाव सिद्ध होने पर व्यतिरेक सिद्ध होगा और व्यतिरेक सिद्ध होने पर असर्वज्ञत्व की सिद्धि। इस तरह चक्रक दोष होगा।^२

यदि हम कहें कि सब को सर्वज्ञ अनुपलम्भ है तो इसमें भी सबके विषय में जो जानेगा वह सर्वज्ञ सिद्ध होगा। जैमिनी कहते हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञान और उसका धारक कोई नहीं है क्योंकि वह आकाश-कुसुम की तरह अनुपलब्ध है। लेकिन यह किसको अनुपलब्ध है, लौकिक को या अन्य किसी को? और यह अनुपलब्धि किस हेतु से है?—सत्ता से, पुरुषत्व से या वक्तृता से? लेकिन इन तीनों हेतुओं को हम वेद में भी लगा सकते हैं क्योंकि वेदार्थक कोई भी उपलब्ध नहीं है। लेकिन यह स्थिति मीमांसकों के लिये अप्रिय होगी। अतः यदि वेदार्थ की सत्ता मानते हैं तो सर्वज्ञ को भी मानना ही पड़ेगा। जिस तरह प्रथम सर्वज्ञ का प्रश्न पूछा जा सकता है उसी प्रकार प्रथम वेदार्थज्ञ की भी चर्चा उठायी जा सकती है।

(ग) उपमान

मीमांसकों का कहना है कि उपमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि संभव नहीं।^३ क्योंकि उपमान के लिए सादृश्य चाहिए और सर्वज्ञ के सदृश प्रत्यक्ष में कोई मिलता ही नहीं, और जब उसकी प्रतीति नहीं है तो उसके सादृश्य

१. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ९३, तुलना प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० ७३; सन्मति टीका पृ० ४५, स्याद्वाद रत्नाकर पृ० ३८४, प्रमेय रत्नमाला ५७।

२. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ९३; तुलना—न्याय विनिश्चय पृ० ५५३।

३. तत्त्व-संग्रह पृ० ८३१।

की प्रतीति कहां से होगी ? इसके उत्तर में जैन दार्शनिक इसी तर्क को उलट कर कहते हैं कि उपमान में से सर्वज्ञताभाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सर्वज्ञ के सादृश्य का कहीं अभाव दिखाई नहीं पड़ता, अतः उसका अभाव भी असिद्ध ही रहेगा।^१ “सर्वज्ञ के सादृश्य” की बात करने वाले को यह समझना चाहिए कि सर्वज्ञ का वैशिष्ट्य उसके शरीर^२ में नहीं बल्कि उसकी आत्मा में है, अतः शारीरिक सादृश्य की बात से सर्वज्ञाभाव को प्रमाणित करना हास्यास्पद है।

(घ) आगम

मीमांसक आगम प्रमाण से सर्वज्ञत्व की असिद्धि^३ करते हुए कहते हैं कि आगम या तो नित्य होगा या अनित्य। यदि हम नित्य आगम (वेद) को मानें तो उसमें सर्वज्ञत्व-सिद्धि के लिए वचन नहीं।^४ फिर नित्य आगम को भी अनादि या सादि माना जा सकता है। यदि हम अनादि नित्य आगम को सर्वज्ञ-सिद्धि का हेतु बनायें तो यह गलत होगा, क्योंकि अनादि आगम से आदि सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे होगी क्योंकि सर्वज्ञ तो अनेकों हैं ? और यदि नित्य आगम को सादि माना जाय तो नित्यत्व से सादित्व का आत्म-विरोध है। फिर अनित्य आत्म की बात रही, जो या तो सर्वज्ञ-प्रणीत होगा या असर्वज्ञ-प्रणीत। यदि सर्वज्ञ-प्रणीत आगम से सिद्ध करें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा और यदि असर्वज्ञ आगम को ही प्रमाण मान लेते हैं तो फिर मेरे ही वचन को प्रमाण क्यों नहीं मान लेते, क्योंकि अप्रमाणित आगम एवं मेरे वचन में कोई अन्तर नहीं है ?^५

(च) अर्थापत्ति

अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती^६ क्योंकि इसके लिए किसी भी कार्य को सर्वज्ञ के बिना अनुपपन्न दीखना चाहिए, किन्तु ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो सर्वज्ञ के बिना नहीं होता, अतः अन्यथा-उपपत्ति से सर्वज्ञ-

१. तत्त्व-संग्रह पृ० ८३८; तुलना—बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि पृ० १३६; प्रमेय पृ० २६५।
२. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ९४।
३. मीमांसा-श्लोक वार्तिक, न्याय रत्नाकर व्याख्या पृ० ८२; तत्त्व-संग्रह कारिका ३१८७।
४. “हिरण्यगर्भ प्रवृत्य स सर्ववित् स लोकवित्”—यह वचन “अर्थवाद” है—न्याय-सूत्र २/१/६४; न्याय-भाष्य पृ० १५६, अर्थ संग्रह—देखिये—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० ४५; सन्मति टीका पृ० ९६।
स्याद्वाद रत्नाकर पृ० ३६४, शास्त्रवति समुच्चय टीका पृ० ४९।
५. न्याय कुमुदचन्द्र भाग १, पृ० ९५; प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० २६४।
६. तत्त्व-संग्रह-का. ३२१८।

सिद्धि नहीं होती। हां, कोई ऐसा कह सकते हैं कि सर्वज्ञ के बिना धर्मोपदेश संभव नहीं।^१ लेकिन उपदेश देने का कारण सर्वज्ञता नहीं बल्कि सम्प्रदाय विशेष के विस्तार का व्यामोह है। फिर उपदेश या तो व्यामोह पूर्वक होगा या सम्यक् ज्ञान पूर्वक। यदि प्रथम कोटि का उपदेश रहा तो उसका को मूल्य नहीं, जैसे स्वप्रचारी व्यक्ति की वक्तृता का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु यदि उपदेश सम्यक् ज्ञान पूर्वक मानें तो जैसा मनु ने वेदज्ञान के आधार पर दिया है, तो ठीक है लेकिन बुद्धादि वैसा उपदेश नहीं दे सकते क्योंकि वे वेद-ज्ञान पूर्वक उपदेश नहीं करते। इसका प्रमाण है कि यदि वे वेदज्ञान पूर्वक उपदेश करते तो लोग उनके उपदेशों पर उसी प्रकार आचरण करते जिस प्रकार मनु के उपदेशों का करते हैं। अतः उन लोगों का उपदेश व्यामोह पूर्वक ही हुआ।^२

मीमांसकों के उपर्युक्त आरोपों के उत्तर में जैन दार्शनिकों का कहना है कि अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता^३ क्योंकि षड् प्रमाणों के द्वारा जाने गये अर्थों में ही अर्थापत्ति की प्रतीति होती है। वेद की प्रमाणता सर्वज्ञ होने पर ही सिद्ध होगी क्योंकि गुणवान वक्ता के अभाव में वचन में प्रमाणता नहीं देखी जाती।

अभाव

मीमांसकों का कहना है कि अभाव से तो केवल अभाव ही सिद्ध होगा। फिर भी यदि हम मान लें कि सर्वज्ञ है तो वह समस्त काल की चीजों को अपने-अपने रूप से जानेगा या वर्तमान रूप से ?^४ यदि अपने-अपने रूप से जानें (भूत को भूत, भविष्यत् को भविष्यत्) तो वर्तमान में प्रत्यक्ष हुआ नहीं कहा जाएगा, क्योंकि वस्तु का विषय वर्तमान नहीं है। जो वस्तु का विषय वर्तमान नहीं है वह प्रत्यक्ष नहीं बल्कि स्मरण, कल्पना आदि होगा। यदि वह वर्तमान रूप से सबको जानता है तो उसका ज्ञान भ्रान्ति हो जाएगा क्योंकि अन्यथा स्थित रूप से पदार्थ को मानेगा, यानि भूत और भविष्यत् को वर्तमान रूप से जानेगा, जैसे द्विचन्द्रमा का ज्ञान होता है।^५

फिर “यहां पर सत् है”—इस वस्तु के ज्ञान में वस्तु सत्ता की तरह से प्राग्भाव या प्रध्वंसाभाव प्रतिभासित होते हैं या नहीं? यदि प्रतिभासित

१. तत्त्व-संग्रह का ३२२३, ३२२४, ३२२८।

२. प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० २५०।

३. तत्त्व-संग्रह-का. पृ० ८४९; आप्तपरीक्षा-का. १०२; स्याद्वाद रत्नाकर पृ० ३८८, प्रमेय कमल मार्तण्ड २६५।

४. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ८८; प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० २५०।

५. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ८८; प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० २५०।

होते हैं तो युगपत्^१ या क्रम से ? यदि युगपत् माना जाए तो गलत होगा, क्योंकि जन्म-मरण एक साथ असंभव है। जो वस्तु जिस रूप में प्रतिभासित होता है उसका उसी रूप से व्यवहार होता है, जैसे नीली वस्तु का नीलरूप से। अतः सर्वज्ञ यदि प्राग्भाव (अतीत) और प्रध्वंसाभाव (अनागत) दोनों को युगपत् देखता है तो यह गलत है। चूँकि दोनों का एक साथ रहना संभव नहीं। अतः युगपत् अभाव नहीं होगा। फिर दोनों की प्रतीति क्रम से भी नहीं हो सकती क्योंकि अतीत और अनागत कभी परिसमाप्त होगा ही नहीं, अतः उसकी सर्वज्ञता हो ही नहीं सकेगी।^२

जैन दार्शनिक उपर्युक्त बातों से सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि अभाव वहीं होता है जहाँ प्रमाण-पंचक की निवृत्ति होती है। फिर यह अभाव दो प्रकार का होगा—प्रसज्य प्रतिषेध या पर्युदास।^३ प्रथम में आत्यन्तिक निषेध है, दूसरे में सापेक्ष निषेध। अब यदि प्रसज्य-प्रतिषेध अभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना चाहें तो उसमें अत्यन्ताभाव अवस्तु रूप होता है^४ अतः उससे सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु यदि पर्युदास अभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करें तो एक के निषेध से किसी का सद्भाव करना होगा। इसमें पंच-प्रमाणों के द्वारा अभाव के कथन होने पर भी भाव रूप वस्तु ही वाच्य होती है। फिर इस पर्युदास पक्ष में भी दो हेतु हो सकते हैं—प्रमाण-पंचक-रहित या अन्य। यदि प्रथम स्वीकार करें तो उसमें भी दो विकल्प हो सकते हैं—सर्वथा-प्रमाण-पंचक-रहित या निषेध्य-विषय-सम्बन्धी प्रमाण-पंचक-रहित। यदि प्रथम विकल्प मानें तो वह प्रमेय की सिद्धि कहां से करेगा क्योंकि प्रमाण के बिना प्रमेय सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा हो तो प्रमाण की कल्पना ही व्यर्थ हो जाए। किन्तु यदि दूसरे विकल्प को लें तो वह आत्मा आपकी है या सब की ? यदि अपनी मानें तो परचित्त के साथ उसका मेल नहीं, यदि सब की मानें तो सर्वज्ञ हो जाएगा। इसी तरह निषेध्य सर्वज्ञ से भिन्न जो अन्य ज्ञान अल्पज्ञ होगा यदि उसको मानेंगे तो फिर इस अन्य ज्ञान के द्वारा क्वचित् कदाचित् सर्वज्ञ का निषेध करेंगे या सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञ का निषेध करेंगे ? यदि प्रथम पक्ष मानें तो इसमें किसी का विरोध नहीं; यदि द्वितीय पक्ष मानें तो सर्वज्ञता की स्वतः सिद्धि हो जाती है।^५

१. तत्त्व-संग्रह-का. ३२४८, ३२४९, ३२५०।

२. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ८९। प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० २५०-१।

३. न्याय कुमुदचन्द्र भाग-१, पृ० ९६।

४. तत्त्व-संग्रह-का. पृ० ८५०; मीमांसा—श्लोकवार्तिक, अभाव परिच्छेद श्लोक १; श्लोक २७।

५. न्याय कुमुदचन्द्र-भाग १, पृ० ९६-९७ और प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० २६५-६८।

६. सर्वज्ञत्व-विचार पर आरोप एवं उनकी समीक्षा

सर्वज्ञता-सम्बन्धी ज्ञान-युद्ध वस्तुतः बौद्धिक प्रखरता का एक अद्भुत अध्याय है जिसमें मीमांसक, जैन एवं बौद्ध सब का योग रहा है। हम यहाँ पर कुछ थोड़े आरोपों पर विचार करेंगे।

(क) सर्वज्ञता की प्रकृति सम्बन्धी आरोप

(अ) यदि सर्वज्ञता का अर्थ सभी वस्तुओं का क्रमिक ज्ञान है तो यह असंभव है क्योंकि संसार की समस्त वस्तुओं का काल की अपेक्षा कभी लोप नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञान सर्वदा अपूर्ण ही रहेगा।^१

उत्तर—“केवल-ज्ञान” क्रमिक नहीं युगपत् होता है, अतएव ऐसी कोई कठिनाई नहीं।

(आ) यदि सर्वज्ञ का ज्ञान युगपत् होगा तो निम्नलिखित कठिनाइयाँ होंगी :—

(१) युगपत् ज्ञान होने से सर्वज्ञ विरोधी वस्तुओं की अनुभूति एक ही^२ ज्ञानानुभूति से करेंगे जो सर्वथा असंगत है। अतः युगपत् भी नहीं होगा।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि तर्कतः चाहे यह कितना ही असंगत दीखता हो किन्तु व्यवहारतः हम एक ही साथ निविड़ अंधकार में प्रकाश की किरण देखते हैं। काले बादलों के बीच विद्युत् दीखता है। अतः दो विरोधी चीजें एक साथ दीखना संगत है।^३

(२) युगपत् ज्ञान सम्बन्धी दूसरी आपत्ति यह है कि यदि सर्वज्ञ केवल ज्ञान द्वारा एक क्षण में ही समस्त भूत भविष्यत् को देख लेता है तो फिर उसके लिये किसी वस्तु का ज्ञान होना बाकी नहीं रहता, अतएव वह तो अचेतन जैसा हो जायगा, चूँकि अब उसे कुछ जानना है ही नहीं।^४

किन्तु यह आरोप तभी सही होता है जब सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष एवं समस्त संसार दोनों का तत्क्षण विनाश हो जाता है। वस्तुतः ये दोनों तो चिरस्थायी हैं।

(३) सर्वज्ञ चूँकि रागद्वेषादि का साक्षात्कार करता है अतएव वह स्वयं^५ रागद्वेष पूर्ण हो जाएगा और उसकी वीतराग की स्थिति समाप्त हो

१. प्रमेय कमल-मार्त्तण्ड पृ० २५४।

२. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-पृ० २५९।

३. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-पृ० २५४। तत्वसंग्रह कारिका-३२४७ से ३२६१ तक में सामत और योजमा (मीमांसकों की युक्तियाँ वर्णित हैं)।

४. आउट लाइन्स आफ जैनिज्म-मोहनलाल मेहता पृ० १०१; प्रमेय पृ० २५४।

५. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-२५४, तत्वसंग्रह का ३३१५।

जाएगी। किन्तु यह आरोप भी सही नहीं है। रागादि हमारे मनोविकार से उत्पन्न होते हैं, ये आत्मा के गुण नहीं। फिर आसक्ति और आसक्ति का ज्ञान अलग है। जिस प्रकार मद्य के लाभ-हानि आदि को जानने वाला स्वभावतः मद्यपी नहीं हो जाता उसी प्रकार रागादि का ज्ञान हो जाने से ही रागासक्त नहीं हो जाता।

इसी तरह सर्वज्ञ को सभी अशुचि पदार्थों को जान लेने से ही रसास्वादन का दोष नहीं लगता। फिर सर्वज्ञ का ज्ञान तो अतीन्द्रिय होता है।^१ इन्द्रिय से जब सम्बन्ध नहीं तो फिर इन्द्रियासक्ति कैसे होगी? खैर, योगाचार तो बाह्य-संसार का अस्तित्व ही समाप्त कर इन सब भङ्गटों से छुट्टी ले लेते हैं।

(४) यदि सर्वज्ञता का अर्थ अखिल वस्तु पर्यायों का ज्ञान (जो कठिन है) न रख कर केवल प्रधान भूत वस्तुओं का ज्ञान माना जाय तो इसमें भी एक कठिनाई होगी; जैसे किन्हीं प्रधान वस्तुओं से अप्रधान वस्तुओं का भेद तब तक नहीं किया जा सकता जब तक हम संसार को समस्त वस्तुओं का परिज्ञान नहीं कर लें और समस्त वस्तुओं के परिज्ञान की भीषणता से बचने के लिये केवल प्रधान वस्तुओं का ज्ञान अपेक्षित समझा गया था। अतः यहाँ भी कठिनाई हो गयी है।^२

(५) यदि सर्वज्ञता के ज्ञान में अनादि और अनन्त भ्रूलकते हैं तो उनकी अनादिता या अनन्तता नहीं रह पाती।^३ इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि जो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। किसी के स्वभाव को अन्यथा नहीं किया जा सकता, न अन्य रूप में वह केवल ज्ञान का विषय होगा।

(६) यदि सर्वज्ञता के ज्ञान में अतीत एवं अनागत (जिनकी वर्तमान में सत्ता नहीं है) का बोध होता है तो इसका अर्थ हुआ कि केवलज्ञान में असत् वस्तु का बोध होने से वह विपर्यय एवं विभ्रम पूर्ण है। किन्तु यह आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि अतीत की वस्तुओं की अतीत में वही सत्ता है जो वर्तमान कालिक वस्तुओं की है। इसी तरह भविष्य के विषय में कहा जा सकता है।

(७) किन्तु यदि अतीत और अनागत वर्तमान रूप से अनुभूत होते हैं तो फिर वर्तमान का अनुभव मानना चाहिये। किन्तु इसके विषय में तो पहले ही कहा जा चुका है कि अतीत का वर्तमान में अतीत रूपेण और

१. तत्त्वसंग्रह — का. ३३१८-९; तत्त्वसंग्रह का. ३३८१-८९।

२. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० २५४-२५५।

३. वही पृ० २५४-२५५।

अनागत रूपेण अनुभव किया जाता है। कर्मादि क्षय होने के कारण केवल ज्ञान को देश काल की बाधा नहीं रहती है।

(ख) वक्तृत्व सम्बन्धी आरोप

(१) मीमांसक अर्हन्त को इसलिये सर्वज्ञ नहीं मानते कि वह वक्ता है^१ और रथ्यापुत्र की तरह साधारण व्यक्ति। किन्तु वक्तृत्व एवं सर्वज्ञत्व में कोई विरोध नहीं। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ वक्तृत्व की प्रकर्षता इसको सिद्ध करती है। अतः यह आरोप गलत मानना चाहिये।^२

(२) चूँकि वक्तृत्व का सम्बन्ध विवक्षा से है, अतः वीतराग अर्हन्त में वक्तृत्व नहीं हो सकता। किन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वक्तृत्व एवं विवक्षा में अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है^३ क्योंकि सुषुप्त या मूर्च्छित व्यक्ति में विवक्षा का अभाव होने पर भी वचन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और विपरीत मूर्ख एवं मंद बुद्धि में कितनी भी विवक्षा रहने पर वक्तृता नहीं आती।^४

(३) अर्हन्त के वचन प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि अर्हन्त बुद्धादि की तरह एक व्यक्ति है। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वीतराग व्यक्ति के वचन ही यथार्थ माने जाते हैं। दूसरे तो भूठ भी बोल सकते हैं।^५

(ग) अन्य यौक्तिक आरोप एवं उत्तर

(१) चूँकि हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता अतः अनुपलम्भ होने से उसका अभाव मान लेना चाहिये। इसको तो सबसे पहले माना नहीं जा सकता क्योंकि षट् प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की है। फिर यह अनुपलम्भ किसको माना जाय—अपने को या सबको? यदि प्रश्न-कर्त्ता या संशय-कर्त्ता को यह अनुपलम्भ है तो कोई बात नहीं। दुनिया में उनके द्वारा अनुपलब्ध असंख्य पदार्थों का अस्तित्व है। लेकिन यदि संशय-कर्त्ता यह कहते हैं कि “सब को सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है” तो यह सब के ज्ञानों को जानने वाला सर्वज्ञ ही होगा, असर्वज्ञ नहीं। अतः सर्वानुपलम्भ असिद्ध है।^६

१. मीमांसा श्लोकवार्तिक, चोदना सूत्र, श्लोक १५८ ।

२. स्याद्वाद सिद्धि सम्पादक-दरबारीलाल, मा. च. दि. ग्रन्थमाला पृ० २९, जैन-दर्शन पृ० ३०९-३१० ।

३. मीमांसा श्लोक वार्तिक-चो. सूत्र-श्लोक १६१ ।

४. वही, पृ० २९-३०; जैन दर्शन पृ० ३१० ।

५. स्याद्वाद सिद्धि पृ० ३०; अर्हत्सर्वज्ञ सिद्धि: श्लोक १६, १७, १८ ।

६. जैन दर्शन पृ० ३१०-३११ ।

(२) यह कहा जाता है कि समस्त संसार में हम एक भी सर्वज्ञ नहीं देखते। किन्तु हमारा अज्ञान हमारा प्रमाण नहीं बन सकता। यह तो वैसा ही हुआ कि हम कहें कि जैमिनि आदि वेदों का मर्म नहीं जानते थे क्योंकि अभी हम उनके जैसा व्यक्ति नहीं देखते।^१

(३) आगम वर्णित साधनों से यदि सर्वज्ञता प्राप्त होती है और फिर सर्वज्ञ के द्वारा आगम कहा जाता है, तो दोनों परस्पराश्रित होने से असिद्ध हैं। इसका उत्तर होगा—“सर्वज्ञ आगम का कारक है। प्रकृति सर्वज्ञ का कारण पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से उत्पन्न होता है और पूर्व सर्वज्ञ का ज्ञान तत्पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से। इस तरह दोनों का बीजांकुर सम्बन्ध है। पुरुष अपना विकास कर जब सर्वज्ञ हो सकता है तो उसी के गुणों से वचनों में प्रमाणता आयेगी।”

(४) यदि सर्वज्ञ को धर्मी बनाकर भावात्मक हेतु दिया जाए तो असिद्ध हो जाते हैं, यदि अभावात्मक हेतु देते हैं तो विरुद्ध हो जायेंगे और यदि दोनों सर्वज्ञ के धर्म हैं तो अनैकान्तिक हो जायेंगे। वस्तुतः यह शंका ही गलत है। हम सर्वज्ञ को नहीं “कश्चिदात्मा” को धर्मी बनाते हैं, अतः ये सारे दोष नहीं लगते। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं—“कोई आत्मा सर्वज्ञ होगी। क्योंकि पूर्ण ज्ञान आत्मा का भाव है और उसके प्रतिबन्धक कर्मादिकषय से हट सकते हैं।”

(५) सर्वज्ञ के साधक एवं बाधक दोनों प्रमाण नहीं मिलते, अतः संशय स्वाभाविक है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह गलत है। सर्वज्ञ का त्रिकाल एवं त्रिलोक में अभाव कौन बता सकता है? जो स्वयं सर्वज्ञ है। अतः जो यह कहे कि कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, इसका अर्थ है कि कम से कम वह अवश्य सर्वज्ञ है क्योंकि उसने सब को देखा है।^५

८. सर्वज्ञता सिद्धि के कुछ प्रमाण : जैन ग्रंथों पर आधारित

शास्त्रीय प्रमाणों के अतिरिक्त विभिन्न जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञ-सिद्धि के कुछ अपने-अपने मौलिक प्रमाण उपस्थित किये हैं, हम उन्हीं का विवेचन करेंगे।

(क) आत्मा का स्वभाव : अनन्त ज्ञान

जीव स्वाभाविक अवस्था में अनन्त चतुष्टय को प्राप्त रहता है किन्तु ज्ञानावरणीय कर्मों के कारण कर्म-पुद्गल प्रभाव से इसका अनन्त ज्ञान आवृत्त

१. वही, पृ० ३१२-३१३; स्याद्वाद सिद्धि पृ० २९।

२. जैन दर्शन पृ० ३१२, स्याद्वाद सिद्धि पृ० ३०।

३. जैन दर्शन पृ० ३१३-३१४, न्यायावतार सूत्र वार्तिक पृ० ५१।

४. जैन दर्शन पृ० ३१४।

हो जाता है। किन्तु जिस प्रकार मेघ हटने मात्र से ही सूर्य का अविच्छिन्न प्रकाश मिलता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्मों के प्रक्षय होने से ही जीव को सब वस्तुओं का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। स्वामी विद्यानन्द^१ ने हरिभद्र कृत योग बिन्दु^२ से इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण श्लोक “ज्ञो ज्ञेयेकथमज्ञः” उद्धृत कर उसकी तार्किक विवेचना कर सर्वज्ञ सिद्धि की है। अकलंक ने भी न्याय-विनिश्चय^३ में इसी तरह की अन्य रोचक उपमार्यों दी हैं। हां, बौद्धों का अनात्मवादी पूर्वाग्रह इस तर्क को स्वीकार करने में बाधक होगा। उनके अनुसार सर्वज्ञता के ज्ञान में विश्व का अनात्म रूप-ज्ञान होना चाहिये क्योंकि सत्ता को तो बौद्ध अनात्म रूप मानते हैं।^४ कमलशील ने शांतरक्षित की तत्सम्बन्धी कारिका पर भाष्य करते हुए सर्वज्ञता को प्रमाणित मानकर अनात्मवाद को प्रतिष्ठित करना^५ चाहा जब जैन दार्शनिक आत्मवाद पर ही सर्वज्ञता प्रतिष्ठित करते हैं। अकलंक पूछते हैं कि जबकि अज्ञानावरण हट जाता है तो फिर जानने को रह ही क्या जाता है ?^६

(ख) समन्तभद्र का अनुमेयत्व-प्रमाण

स्वामी समन्तभद्र^७ ने सर्वज्ञता की सिद्धि इस अनुमान से की है— सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं, जैसे अग्नि आदि। न्याय दीपिकाकार धर्मभूषण^८ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहां “प्रत्यक्ष” का अर्थ “प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय” विवक्षित है क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में उपचार होता है। सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूंकि हम लोग अनुमान से जानते हैं अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ हैं। कुमारिल प्रत्यक्ष को इन्द्रिय-जन्यता^९ पर बल देकर कहते हैं कि उनका जब प्रत्यक्ष ही आवश्यक है तो अनुमेयत्व की पूर्वकल्पना व्यर्थ है। अकलंक इसके उत्तर में कहते हैं कि अनुमान का वही विषय है जो प्रत्यक्ष का विषय हो

१. अष्ट साहस्री पृ० ५० ।

२. योग बिन्दु श्लोक ४३१ ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने ।

३. न्याय-विनिश्चय-विवरणम्-द्वितीय भाग-सम्पा. महेन्द्रकुमार, ज्ञान पीठ भाग-२, पृ० २९४ न्याय वि. ३/७९, मलैरि मणि विद्वः-आदि ।

४. तत्त्वसंग्रह-३३३७, ३३३८ ।

५. तत्त्वसंग्रह-३३४० ।

६. न्याय विनिश्चय-कारिका ४६५ ।

७. आप्त मीमांसा कारिका ५ ।

८. न्याय दीपिका पृ० ४१, ४२ ।

९. मीमांसा दर्शन १.१.४ ।

चुका है। चूँकि ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं है इसलिये दूर अन्तरित पदार्थ अर्हन्त के परमार्थ प्रत्यक्ष है, क्योंकि प्रमेय है।^१ इस तरह हम देखते हैं कि अकलंक सर्वप्रथम अनुमेयत्व के बदले प्रमेयत्व सेतु लाया।

(ग) ज्योतिर्ज्ञान विसंवाद

जिस प्रकार ज्योतिष शास्त्र नक्षत्रों एवं सूर्य या चन्द्र ग्रहणों के विषय में निश्चित ज्ञान देता है उससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बिना इन्द्रिय वस्तु सम्पर्क के भी ज्ञान संभव है।^२ इसी प्रकार प्रश्न-विद्या या ईक्षणी विद्या से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों का भासक होता है। यह भट्ट अकलंक की प्रमुख युक्ति है।

(घ) सुनिश्चित संभवद् बाधक प्रमाण

अकलंक ने इस हेतु का सर्वज्ञ सिद्धि के लिये प्रयोग कर इसे सबसे बड़ा प्रमाण माना है कि इसकी सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है।^३ इसी को संकेत कर स्वामी विद्यानंद^४ ने कहा कि यदि छः प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध हो तो उसे कौन रोक सकता है? आचार्य हेमचन्द्र^५ ने भी 'बाधकाभावाच्च' कहकर इसको समर्थित किया है। प्रभाचन्द्र^६ ने छहों प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध कर दिखाया है।

(च) प्रज्ञातिशय-प्रमाण

ज्ञान का तारतम्य ही सर्वज्ञ के अस्तित्व का बीज है।^७ ज्ञान का भी मात्रा भेद होता है जिसकी पूर्णाहुति सर्वज्ञता में होगी। सुखलालजी^८ इस प्रमाण का मूल योग-सूत्र^९ में मानते हैं जिसे फिर न्याय-वैशेषिक-बौद्ध-जैन आदि ने लिया। किन्तु मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान चाहे जितना भी

१. आप्त परीक्षा-का २४६।

२. न्याय-विनिश्चय का. ४१४। सिद्ध विनिश्चय टीका पृ० ४१३। स्याद्वाद मंजरी श्लोक २६। तुलना-तत्त्वसंग्रह का-३१६६। आप्तपरीक्षा का. २६३।

३. न्याय विनिश्चय प्रवचन प्रस्ताव का. १९।

४. आप्त परीक्षा-कारिका ९३; मीमांसा श्लोक वार्तिक ४.५.८४।

५. प्रमाण-मीमांसा १.१.१७।

६. प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० २४७ से २६६; न्याय कुमुदचन्द्र-भाग १, पृ० ८६ से ९७।

७. प्रमाण-मीमांसा १.१.१६; स्याद्वाद मंजरी (टीका) श्लोक १७।

८. दर्शन और चिंतन पृ० ४२८।

९. पतंजलि का योग सूत्र "तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम्" १/२५।

विकसित हो, उसकी अपनी सीमा तो है ही।^१ चाहे हमारा नेत्र कितनी ही प्रकृष्टता क्यों न प्राप्त कर ले लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम उससे शब्द का अनुभव कर सकें।^२ बुद्धि, प्रतिभा आदि से जो भी अतिशयवान् देखे गये हैं वे न्यूनाधिक रूप से अतिशयवान् हैं न कि अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने से।^३ एक शास्त्र के ज्ञान में बड़े अतिशय देखे जाते हैं लेकिन दूसरे शास्त्र का ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं होता।^४ मीमांसक पूछते हैं कि जो १५ फीट कूद सकता है उसके विषय में १५ मील कूदने की कल्पना कर लें तो यह तर्क की टांग तोड़ना होगा।^५ किन्तु मीमांसक यह भूल जाते हैं कि सर्वज्ञता का ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान की प्रकर्षता नहीं बल्कि अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति में है।^६ केवल ज्ञान तो अनन्त होता ही है। जैन परम्परा में इस युक्ति का प्रथम प्रतिपादन मल्लवादी^७ ने किया, फिर यशोविजय^८ आदि ने इसका उपयोग किया।

(छ) अंश-अंशी प्रमाण

आचार्य वीरसेन^९ ने “जयधवला” में सर्वज्ञता की सिद्धि अंश-अंशी न्याय से की है। जिस प्रकार पर्वत के एक अंश को देखने से पूर्ण पर्वत का व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना जाता है, उसी तरह मति ज्ञानादि अवयवों को देखकर अवयवी रूप केवल ज्ञान स्वसंवेदन से होता है। आत्मा का स्वाभाविक केवल ज्ञान यहां मतिज्ञानादि रूप में प्रकट होता है।^{१०}

६. सर्वज्ञता को संभावना : एक प्रयास

(क) विज्ञान के आदर्शों में सर्वज्ञता की संभावना

विज्ञान विश्व का सुव्यवस्थित क्रमबद्ध ज्ञान है। इसका उद्देश्य अज्ञान

१. तत्त्वसंग्रह-का. ३१६०-६१।
२. वही, का. ३१६१-६२।
३. वही, का. ३१६०।
४. वही, का. ३१६५।
५. वही, का. ३१६६।
६. वही, का. ३३१८-९।
७. दर्शन और चिन्तन पृ० ४२९।
८. ज्ञान बिन्दु-प्रकरण पृ० १९।
९. जैन दर्शन पृ० ३०८-९। जयधवला-आरपत्र ८६६, अष्टशती-का. ३; न्याय-विनिश्चय पृ० ४६५। अष्ट सहस्री पृ० ५०।
१०. तुलना—Our phenomenal knowledge suggests a noumenal as a necessity of thought—राधाकृष्णन्-इंडियन फिलासफी भाग १, पृ० ५०९।

और अनिश्चयता को दूर कर सृष्टि की संश्लिष्टताओं को समझना ही है। इसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। यह ठीक है कि रूढ़िवादी दर्शन-परम्परा की तरह यह सत्य के विषय में अंतिम निर्णय नहीं देना चाहता, किन्तु इसका आदर्श सृष्टि के समस्त रहस्यों का भेदन करना ही है। अतः यह सर्वज्ञता की एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ परिकल्पना पर प्रतिष्ठित है। यह कहा जा सकता है कि आकांक्षा, उद्देश्य या आदर्श का सत्य एवं तथ्य के साथ अविनाभाव संबंध सामान्यतः नहीं होता है; लेकिन हम इसे चाहे बिल्कुल सत्य भले ही नहीं मानें किन्तु इसकी संभावना को तो, चाहे जितने भी अंश में, स्वीकार कर ही सकते हैं। आखिर ज्ञान-विज्ञान का विस्तार भी इसी क्रम से हुआ है।

(ख) परामनोविद्या में सर्वज्ञता की संभावना

पातंजल “योग सूत्र” में एवं अन्य योग-ग्रन्थों में सर्वज्ञता की स्थिति को सत्य माना गया है। योगशास्त्र^१ के अनुसार सर्वज्ञता संयम, विवेक आदि से प्राप्य है। योगी-ज्ञान के लिये यह संभव है; खैर, यह तो पुरानी बातें हैं। परामनोविद्या की अद्यतन भूमिका में जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (क्लेयरवोयेंस, टेलीपेथी, क्लेयरआडियेंस आदि=इन्द्रियेतर ज्ञान तथा प्राग्ज्ञान आदि) सम्बन्धी सहस्रों सफल अनुसंधान हो चुके हैं तो इससे सर्वज्ञता की संभावना बहुत हद तक स्वतः सिद्ध हो जाती है।

(ग) धार्मिक अनुभूति में सर्वज्ञता की संभावना

“धर्म-मनोविज्ञान” ने भी धार्मिक अनुभूति^२ को स्वीकार किया है जो निश्चित रूप से इन्द्रिय अनुभूति से बहुत भिन्न है। धार्मिक रहस्यानुभूति की बात तो और ही है जहां विचार और वस्तु-जगत् एकाकार होकर ज्ञान-जगत् में एक विलक्षण सृजनात्मक अध्याय प्रारम्भ करता है। यह ज्ञान अकाट्य, अखंडित एवं निर्बाध होता है। इसीलिये तो धार्मिक पैगम्बर सर्वज्ञ माने गये हैं। अतः धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति में सर्वज्ञता का अमिट संकेत है।

(घ) निरपेक्षवाद में सर्वज्ञता की संभावना

निरपेक्षवादी दर्शनों में सर्वज्ञता का बीज अन्तर्निहित है। जैसे उपनिषद् में, जहां आत्मा को सर्वोच्च सत्ता माना गया है,^३ वहां उसका ज्ञान ही सब का ज्ञान करा देगा। इसीलिये तो कहा गया है “यः आत्मवित् स सर्ववित्।”^४ अद्वैत वेदान्त में, जहां ब्रह्म को चरम सत्ता स्वीकार किया गया

१. योग सूत्र ३.५०; ३.१४; ३.१६; ३.४४; ३.३४.

२. राधाकृष्णन् कृत Idealistic View of Life पृ० ८४, देखिये Counter attack from the East, by C.E.M. Joad, 79-80।

३. कौशीतिकी ४.१९।

४. बृहद् ३.७.१; ४.५.६; प्रश्न ४.१०-११।

है, उसका ज्ञान ही सर्वज्ञता है; यों सर्वज्ञता तो “प्राज्ञ” स्थिति में ही हो जाती है। सर्वोच्च सत्ता का ज्ञान सर्वज्ञता से ही संभव है। ज्ञान एवं सत्य साथ-साथ चलते हैं। सर्वोच्च सत्ता के ज्ञान में सर्वज्ञता प्रतिफलित होगी ही। सर्वोच्च सत्ता के बाहर तो कुछ भी नहीं है, अतः इसके ज्ञान में सब का ज्ञान समाहित है।

(च) ज्ञान की सर्व संग्राहकता में सर्वज्ञता की संभावना

ज्ञान के अन्तर्गत सब कुछ है क्योंकि इसकी प्रकृति सर्व संग्राहकता है।^१ अतः ज्ञान की सीमा वस्तुतः हमारी अपनी सीमायें हैं, इसीलिये तो इसका क्रमशः विकास होता ही रहा है। मानवीय ज्ञान से परे पदार्थ अज्ञात रह सकते हैं लेकिन अज्ञेय नहीं क्योंकि अज्ञान को भी अज्ञात रूप से जानना ज्ञान ही है। इसीलिये संशयवाद और अज्ञेयवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं। प्रत्यक्ष की सीमा ज्ञान की सीमा नहीं है, इसीलिये जिसका प्रात्यक्षिक प्रामाण्य नहीं हुआ तो उसका प्रामाण्य होगा ही नहीं, यह भ्रान्त धारणा है।^२ अपने ज्ञान के विषय में कोई भी सीमा बांधना ज्ञान के उच्चतर गवाक्षों—कल्पना, चिन्तन, कर्त्तव्यानुभूति, बौद्धिक एवं सौन्दर्यानुभूति आदि की उपेक्षा कर अपने को ही झुठलाना है।

१०. उपसंहार

सर्वज्ञता का विचार हमें अंधविश्वास पूर्ण एवं रूढ़िगत इसलिये दृष्टि-गोचर होता है कि हम में ज्ञान की स्वनिर्मित, संकुचित एवं परम्परा से प्रतिष्ठित सीमाओं के उल्लंघन के बौद्धिक साहस का अभाव है। हम ज्ञान के प्रस्तुत एवं प्रचलित गवाक्षों से ही विश्व की समस्त व्यूह रचना देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। स्वभावतः हम सर्वज्ञता के स्वर्ग द्वार तक पहुंचने से बचि रह जाते हैं। किन्तु हमें मानना चाहिये कि हमारे ज्ञान की मान्य साधनों की सचमुच अपनी निरीह सीमायें हैं। लेकिन अज्ञात अज्ञेय नहीं रह सकता, जब तक हम स्वयं अज्ञान के अनन्त अंधकार में अपनी विवशताओं में ही आवद्ध रहने का निश्चय न कर लें। ज्यों-ज्यों मानव ज्ञान की अपनी शक्ति का विकास करता जाएगा, अज्ञान एवं अज्ञात के आवरण भी स्वयं दूर होते जायेंगे। अतः मौलिक रूप से, ज्ञान की सम्पूर्ण संभावनायें, उपलब्ध या

१. Angus Sincliar, The Condition of Knowing, Lond. 1957, p. 13.

२. G.T Ladd : Knowledge, Life & Reality, New Haven, 1918, p. 98.

अनुपलब्ध मानवीय ज्ञान की शक्ति की सीमाओं में ही आवद्ध है।^१ आज ज्ञान के नवीन उपकरणों का आविष्करण अत्यन्त अपेक्षित है। इसके लिये नवीन आकांक्षा एवं नयी दिशा चाहिये जिससे ज्ञानमीमांसा की प्रचलित जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं में एक आधारभूत परिवर्तन हो सके।

१. Soli R. abbles, His article "Higher Modes of Congnition of Instrument of Knowledge" in Proceedings of International Philosophical Congress (Brussels 1953), p. 72.

जैन-न्याय में हेतु-लक्षण : एक अनुचिन्तन

१. भारतीय न्याय-परम्परा में अनुमान का विकास क्रम

लिपिबद्ध मूल भारतीय वैदिक वाङ्मय, विशेषकर ऋग्वेद आदि में “अनुमान” या इसके पर्यायवाची शब्द नहीं मिलते हैं किन्तु उपनिषद्-साहित्य में “वाक्योवाक्यम्” शब्द आता है जिसे अनुमान का पूर्व संस्करण कहा जा सकता है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में अनुमान के अंगों जैसे “हेतु” और “दृष्टांत”, मैत्रायणी में “अनुमीयते” और सुबालोपनिषद् में “न्याय” शब्द आया है। छान्दोग्य के शांकरभाष्य में “वाक्योवाक्यम्” का अर्थ “तर्कशास्त्र” दिया गया है। प्राचीन बौद्ध पाली ग्रन्थ ब्रह्मजालसुत्त में “तर्की” एवं “तर्क” शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो वितंडावाद के लिए आया है। न्याय सूत्र में न्यायभाष्य में तर्कों को अनुमान नहीं बल्कि उसका अनुग्राहक माना गया है। उद्योतकर ने तर्क, हेतु, न्याय, अन्वीक्षा आदि को अनुमानार्थक ही माना है। भीमाचार्य ने न्याय-कोश में “तर्क” शब्द अर्थों में “आन्वीक्षिकी विद्या” और “अनुमान” अर्थ दिया है। बाल्मीकि रामायण में आन्वीक्षिकी का प्रयोग हुआ है जबकि महाभारत में “आन्वीक्षिकी” के अलावा हेतु, हेतुक, “तर्क विद्या” जैसे शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। कहीं भारत में “आन्वीक्षिकी” को परा-विद्या के रूप में तो कहीं मोक्ष के

१. छान्दोग्य, ७।१।२

२. ब्रह्म बिन्दु उपनिषद्, निर्णय सागर प्रेस, वही १९३२ श्लोक—९

३. मैत्रायणी उपनिषद्, नि० सा० प्रे० बम्बई, १९३२, ५।१

४. सुबालोपनिषद्, नि० सा० प्रे० बम्बई, १९३२, खंड-२

५. ब्रह्मजाल सूत्र, १।३२ सम्पा० रायस डेविड

६. न्याय सूत्र (गौतम), १।१।३, १।१।४०

७. न्याय-भाष्य (वात्सायन), १।१।३, १।१।४०

८. न्याय वार्त्तिक, १।१।४०

९. न्याय कोश, बम्बई, प्राच्य विद्या संशोधन मंदिर, १९२८, पृ० ३२१

१०. बाल्मीकीय रामायण, अयोध्या०, १००।३८, ३९

११. महाभारत, शांति पर्व, २१०।२२, १८०।४६

१२. वही, ३१८।३४

लिए सर्वाधिक उपयोगी माना गया है।^१ हां एक जगह शास्त्र श्रवण के अनधिकारियों को “हेतुदुष्ट”^२ कहा है किन्तु नारद को पंचावयवयुक्त वाक्य के गुण-दोषों का वेत्ता और “अनुमान विभाग वित्”^३ कहा गया है। कौटिल्य ने इसे विभिन्न युक्तियों के बलाबल का आश्रेय आदि माना है।^४ मनुस्मृति में “तर्क” और “तर्की” के साथ-साथ “हेतुक”, “आन्वीक्षिकी” और “हेतुशास्त्र” शब्द का उल्लेख किया है। प्राचीन जैन-परम्परा में षट्खंडागम^५ में “हेतुवाद”, स्थानांगसूत्र^६ में “हेतु” भगवती सूत्र^७ में “अनुमान और अनुयोगसूत्र”^८ में अनुमान के विभिन्न प्रभेदों की चर्चा है। इस तरह हमें मानना चाहिए कि जैनागमों में भी “अनुमान” की परंपरा विद्यमान है जो परवर्ती काल में संवर्द्धित और पल्लवित हुई है।

भारतीय अनुमान केवल कार्यकरण रूप बौद्धिक व्यायाम ही नहीं, बल्कि निःश्रेयस का भी साधन है। यहीं कारण है कि भारतीय अनुमान-परम्परा का जितना विवेचन तर्क ग्रन्थों में पाया जाता है, लगभग उतना ही धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं पुराण ग्रन्थों में भी है।

२. जैन परम्परा में अनुमान

षट्खंडागम^९ में श्रुत के नामों में एक नाम “हेतुवाद” भी माना गया है जिसे आचार्य वीरसेन ने “हेतु द्वारा तत्सम्बद्ध अन्य वस्तु का ज्ञान” कहा है, अतः इसे हेतुवाद, हेतुविद्या, तर्कशास्त्र या युक्तिशास्त्र या अनुमान-शास्त्र कहा गया है। इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने अनुमान शास्त्र को युक्त्यनुशासन^{१०} का नाम देकर इसी नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना कर

१. वही, ३१८।३५
२. वही, अनुशासन पर्व, १३४।१७
३. वही, सभापर्व, ५।५।८
४. अर्थशास्त्र, विद्या समुद्धेश, १।१
५. भूतबलि पुष्पदन्तकृत, षट्खंडागम, ५।५।५१
६. स्थानांग सूत्र, संपा० कन्हैयालाल, व्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०, पृ० ३०९, ३९०
७. भगवती सूत्र, संपा० कन्हैयालाल, कलकत्ता, ५।३।१९१-८२
८. अनुयोग सूत्र, मूल सुत्ताणि, संपा० कन्हैयालाल, व्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०, पृ० ५३९
९. न्याय भाष्य (वात्स्यायन), १।१।१ पृ० ११
१०. षट्खंडागम, ५।५।५१
११. युक्त्यनुशासन, दिल्ली, वीर सेवा मंदिर पृ० ४८
स्थानांग सूत्र, पृ० ३०९-३१०

दी है। स्थानांग सूत्र^१—में 'हेतु' शब्द प्रयुक्त है जिसका प्रयोग प्रमाण-सामान्य तथा अनुमान के प्रमुख अंग हेतु दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। हेतु के चार भेद बताए गए हैं।^२ भगवती-सूत्र^३ में चार प्रमाण में अनुमान को स्थान दिया गया है। अनुयोग सूत्र में अनुमान के तीन^४ भेद (प्रव्वं, सेसवं, दिद्वसाहम्भं) माने गए हैं जिसके अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं। कालभेद से भी अनुमान के तीन भेद माने गए हैं, जो पारिभाषिक नहीं अभिधामूलक हैं। यह ठीक है कि वात्स्यायन का वर्गीकरण एवं स्वरूप व्याख्या अनुयोगद्वार^५ की व्याख्या से अधिक पुष्ट और व्यवस्थित है, लेकिन इससे अनुयोगद्वार की प्राचीनता तो सिद्ध हो ही जाती है। अनुमान के अवयवों के बारे में आगमों में तो कोई कथन उपलब्ध नहीं है किन्तु तत्त्वार्थसूत्र^६ में पक्ष, हेतु एवं दृष्टांत का उल्लेख है। समन्तभद्र^७, पूज्यवाद^८, और सिद्धसेन दिवाकर^९ ने भी इन्हीं तीन अवयवों का निर्देश किया है। भद्रवाहु^{१०} ने पांच प्रकार से अवयवों की चर्चा की है (यथा, तीन, पांच, दस) लेकिन यह वात्स्यायनादि के दशावयव से भिन्न है।

जैन परम्परा में अनुमान का तार्किक विकास समन्तभद्र से आरम्भ मानना चाहिए, जिसमें साध्य, साधन, पक्ष, उदाहरण, अविनाभाव आदि का निर्देश है। सिद्धसेन के न्यायावतार में अनुमान का स्वरूप, भेद, लक्षण, पक्ष का स्वरूप, हेतु के तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति का निर्देश, दृष्टांत, व्याप्ति, हेतु आदि का प्रतिपादन है। अकलंक के न्याय-विवेचन ने ही "अकलंक-न्याय" का प्रवर्तन कर दिया जिसमें न्याय-विनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धि विनिश्चय आदि जैन न्याय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचंद्र, अभयदेव, देवसूरि, कंदरज, हेमचंद्र, धर्मभूषण, यशो-विजय आदि प्रमुख हैं।

१. धर्मभूषण, न्याय दीपिका, दिल्ली वीर सेवा मंदिर, पृ० ९५-९९
२. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुखम्—३।५७-५८
३. भगवती सूत्र, ५।३ पृ० १९१-९२
४. अनुयोगद्वार सूत्र, वही, पृ० ५३९
५. वही, पृ० ५४१-५४२
६. तत्त्वार्थ सूत्र, १०।५, ६, ७
७. आप्त मीमांसा, ५, १७, १८, युक्त्यनुशासन, ५३
८. सर्वार्थसिद्धि, १०।५, ६, ७
९. न्यायावतार, १३, १४, १७, १८, १९
१०. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा, ४९-१३७

३. जैन न्याय में हेतु का स्वरूप

हेतु अनुमान का आधार स्तम्भ है। हेतु विहीन अनुमान अनुमान नहीं, कल्पना है। किन्तु यक्ष प्रश्न है कि हेतु का स्वरूप क्या है? विभिन्न दार्शनिकों ने हेतु के एकलक्षण से लेकर द्वि, त्रि, चतुः, पंच, षड् और सप्त लक्षण तक भी माने हैं। अक्षपाद ने साध्य को सिद्ध करने वाले साधन को हेतु कहा है। वात्स्यायन ने भाष्य में स्पष्टीकरण करते हुए साध्य (पक्ष) और साधर्म्य उदाहरण (सपक्ष) में धर्म (साधन) के सद्भाव तथा वैधर्म्य उदाहरण (विपक्ष) में उसके असद्भाव का प्रतिसंधान कर साध्य को सिद्ध करने वाला साधन ही हेतु है। उद्योतकर ने भी न्याय-सूत्र एवं भाष्य दोनों का समर्थन ही किया है।

(क) द्विलक्षण-त्रिलक्षण

गौतम, वात्स्यायन और उद्योतकर ने हेतु को द्विलक्षण-त्रिलक्षण माना है। न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने प्रतिसंधान का अर्थ साध्य में व्यापकत्व और उदाहरण में संभव कहा है जिससे हेतु द्विलक्षण-त्रिलक्षण प्राप्त होता है। जब उदाहरण के साथ साधर्म्य है तो विपक्ष को स्वीकार न करने से द्विलक्षण हेतु होता है। हेतु का साध्य में व्यापक, उदाहरण में विद्यमान और अनुदाहरण में अविद्यमान होना चाहिए—ऐसा करने से त्रिलक्षण हेतु होता है। गौतम के “त्रिविधम् सूत्रम् की व्याख्या करते हुए उद्योतकर^१ ने हेतु को प्रसिद्ध, सत् और असंदिग्ध कहकर प्रसिद्ध से पक्ष में व्यापक, सत् से सजातीय में रहने वाला और असंदिग्ध से सजातीय अविनाभावि बताकर हेतु को त्रिलक्षण सिद्ध किया है।

इससे यह प्रतीत होता है कि न्याय-परंपरा में आरंभ में हेतु को द्विलक्षण और त्रिलक्षण माना गया है। प्रशस्तपाद^२ ने काश्यप की दो कारिकाओं के अनुसार लिंग और अलिंग का स्वरूप बताते हुए हेतु को त्रिलक्षण माना है। यह काश्यप ही कणाद का नामांतर है। इस प्रकार गौतम से भी पूर्व हेतु का त्रिलक्षण सिद्धांत हम वैशेषिक में पाते हैं जिसकी विशद व्याख्या प्रशस्तपाद ने की है। सांख्य-कारिका की माठर वृत्ति^३ और

१. गौतम, न्याय सूत्र, १।१।३४, ३५ उदाहरण—साधर्म्यात् साधनं हेतुः । तथा वैधर्म्यात् ।
२. वात्स्यायन, न्याय भाष्य, १।१।३४-३५
३. उद्योतकर, न्याय वार्तिक, १।१।३४, पृ० ११९
४. प्रशस्तपाद भाष्य, चौखंभा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९२३, पृ० १००
५. सांख्य कारिका (ईश्वर कृष्ण), माठर वृत्ति, चौ० सं० सिरीज, वाराणसी, १९१७, का० ५

बौद्ध तार्किकों में शंकर स्वामी, 'धर्मकीर्ति' आदि ने भी हेतु को त्रिलक्षण माना है। यह ठीक है कि हेतु के त्रिलक्षण की चर्चा जितनी सूक्ष्मता से बौद्धों ने की, उतनी दूसरों ने नहीं की किन्तु इसकी मान्यता वैशेषिक, आद्य न्याय और सांख्य में भी रही है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार बौद्धों के हेतु—त्रिलक्षण की मान्यता संभवतः वसुबन्धु और दिङ्नाग से आरम्भ हुई है।

हेतु का चतुर्लक्षण और पंचलक्षण

न्याय परंपरा में हेतु के द्विलक्षण-त्रिलक्षण स्वरूप के अलावे चतुर्लक्षण^१ को प्रगल्भ रूप से स्वीकार किया गया है। वाचस्पति के अनुसार केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी दो हेतु चतुर्लक्षण हैं तथा एक हेतु अन्वय व्यतिरेकी पंचलक्षण हैं। किन्तु जयन्त भट्ट ने हेतु को पंचलक्षण^२ ही माना है इसलिए उनके अनुसार केवलान्वयी हेतु है ही नहीं। शंकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्रोपस्कार में हेतु में अन्वयव्यतिरेकी में पांच एवं केवलव्यतिरेकी में चार हेतुओं को स्वीकार किया है।^३ जयन्ती ने यह मानकर कि चूँकि गौतम ने पांच हेतुवाक्याओं का प्रतिपादन किया है अतः हेतु भी पांच होंगे।^४ वैशेषिक सूत्र^५ एवं भाष्य^६ तथा बौद्धों में शंकर स्वामी^७ एवं धर्मकीर्ति^८

१. शंकर स्वामी, न्याय प्रवेश, बड़ौदा : ओरियंटल इन्स्टीच्यूट, १९२०, पृ० १

२. धर्मकीर्ति, न्याय बिन्दु, वाराणसी, चौ० सं० सि०, द्वितीय-संस्करण, १९५४, पृ० २२-२३

धर्मकीर्ति, हेतु बिन्दु, बड़ौदा : ओरियंटल संस्कृत सिरीज, १९४९, पृ० ५२

३. शातरक्षित, तत्त्व संग्रह, बड़ौदा, जनरल लाइब्रेरी, १९२६ पृ० १३६२

४. न्याय वार्त्तिक तात्पर्य टीका, वाराणसी : यौ० सं० सि०, १९२५, १।१।३५ पृ० २८९

५. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, १।१।५ पृ० ४६ चतुर्लक्षण पंचलक्षणाय अनुमानमिति।

वाचस्पति मिश्र, न्याय वार्त्तिक तात्पर्य टीका, १।१।५, पृ० १७४

६. जयन्त भट्ट, न्यायकलिका, सं० गंगानाथ भा, पृ० १४

७. वैशेषिक सूत्रोपस्कार, वाराणसी, चौखंभा, १०९२३, पृ० ९७

८. जयन्त भट्ट, न्याय कलिका, पृ० १४

९. वैशेषिक सूत्र, ३।१।१५

१०. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० १००

११. न्याय प्रवेश, पृ० ३

१२. प्रमाणवार्त्तिक, इलाहाबाद, किताब महल, १९४३, १।१।७

ने भी हेतु के तीन लक्षणों को मान्य कर तीन हेत्वाभासों का निराकरण बताया है। हां, जयन्त भट्ट और वाचस्पति मिश्र ने जैन तार्किकों के अनुसार हेतु के एक लक्षण अविनाभाव के महत्त्व एवं अनिवार्यता को स्वीकार कर उसे पंचलक्षणों में समाप्त माना है।^१ वाचस्पति के अनुसार तो हेतु के एक लक्षण अविनाभाव के द्वारा ही हेतु के पंचलक्षण सिद्ध हो जाते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि न्याय-परम्परा में हेतु के द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण एवं पंचलक्षण—ये चार मान्यताएं रही हैं किन्तु पंचलक्षण की मान्यता उत्तरकाल में अधिक रही। मीमांसक विद्वान् शालिकानाथ^२ ने त्रिलक्षण हेतु बताया है पर उनका त्रिलक्षण (नियत सम्बन्धक दर्शन सम्बंध नियम स्मरण और अबाधित विषयत्व) दूसरों से भिन्न है।

हेतु के षड्लक्षण

प्राचीन नैयायिकों ने ज्ञापमान हेतु को और भाट्टमीमांसकों ने ज्ञानता को अनुमति में कारण कहा है।^३ धर्मकीर्त्ति^४ और अर्यर^५ ने भी इसी का उल्लेख किया है। धर्मकीर्त्ति ने नैयायिकों और मीमांसकों की किसी मान्यता के आधार पर हेतु का षड्लक्षण^६ स्वीकार किया है, यद्यपि इसकी मान्यता न नैयायिकों के यहां उपलब्ध है न मीमांसकों के यहां।

हेतु के सप्तलक्षण

वादिराज^७ ने हेतु की सप्तलक्षण मान्यता (अन्यथानुपपन्नत्व, २. ज्ञातत्व, ३. अबाधित विषयत्व, ४. असत्प्रतिपक्षत्व, ५-७ पक्षधर्मत्वादि, पर तीन) की समीक्षा की है किन्तु इसका स्रोत नहीं बताया है।

जैन दर्शन में हेतु-लक्षण

स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा^८ में सूत्र रूप से हेतु का “अविरो-

१. देखिए, जयन्त भट्ट, न्याय कलिका, २, वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका, १।१।५, पृ० १७
२. शालिका नाथ मिश्र, प्रकरण पत्रिका, वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, १९६५ पृ० १२२
३. विश्वनाथ पंचानन, सिद्धांत मुक्तावली, बम्बई, गुजराती प्रेस, १९२३, का० ६७, पृ० ५०
४. धर्मकीर्त्ति, हेतु बिन्दु, पृ० ६८
५. अर्यर, हेतु बिन्दु टीका, बड़ौदा, ओरियंटल इन्स्टीच्यूट, १९४९, पृ० २०५
६. धर्मकीर्त्ति, हेतु बिन्दु, पृ० ६८ षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे १
७. वादिराज, न्याय विनिश्चय विवरण, वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ, वि० १०८२, २।१।५, पृ० १७८-८०
८. समन्त भद्र, आप्त मीमांसा, अनु० जुगल किशोर मुख्त्यार, दिल्ली, वीर सेवा मंदिर, १९६७, का० १०६

धतः” सिद्धांत को प्रतिपादित किया है जिसे अकलंक^१ ने स्पष्ट कर एक लक्षण हेतु माना है। विद्यानन्द स्वामी ने इसे हेतु प्रकाशक लक्षण माना है। पात्रस्वामी ने हेतु का एक मात्र लक्षण “अन्यथानुपपन्नत्व” तो माना और त्रिलक्षण की आलोचना की है जिसे शांतरक्षित ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट ही उल्लेख किया है। पात्रस्वामी के मत का उल्लेख अनन्तवीर्य,^२ परवर्ती सिद्धसेन,^३ अकलंक,^४ कुमार नन्दि,^५ वीरसेन,^६ विद्यानन्द,^७ आदि जैन तार्किकों ने किया है, अतः इसका विवेचन अपेक्षित है। पात्रस्वामी के ग्रन्थ “त्रिलक्षण कदर्थन” नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई लेकिन वह अनुपलब्ध है, हालांकि इसका उल्लेख अनन्तवीर्य ने किया है।

पात्रस्वामी के अनुसार जिसमें अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है, वह हेतु नहीं है, चाहे त्रैरूप्य रहे या नहीं। अन्यथानुपपन्नत्व के सद्भाव से गमकता और असद्भाव से अगमकता होती है। कुमारनन्दि^५ ने भी इसीलिए अन्यवानुपपत्तिरूप एक लक्षण को ही हेतु माना है। सिद्धसेन^३ ने हेतु को साध्याविनाभावी कहकर अन्यथानुपपन्नत्व का पर्याय प्रकट किया। अकलंक ने “प्रकृताभावेदनुपपन्नं साधनं”^{१०} एवं “लिगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्”^{११} कहकर इसका समर्थन करते हुए त्रिलक्षणों को अनुपयोगी बताया है।^{१२} धर्मकीर्त्ति ने भी अविनाभाव को स्वीकार किया है पर वे उसे पक्ष-धर्मत्वादि तीन रूपों तथा स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि इन तीन हेतु भेदों में

१. अकलंक, अष्टशती, बम्बई, सेठ रामचंद्र नाथा रंग, १९१८, का० १०६ पृ० २८९
२. विद्यानन्द, अष्ट सहस्री का० १०६, पृ० २८९
३. शांतरक्षित, तत्त्व संग्रह, का १३६४-१३७९
४. अनन्तवीर्य, सिद्धि विनिश्चय टीका, काशी, भारतीय ज्ञान पीठ, ६।२ पृ० ३७१-६२
५. समन्तभद्र, न्यायावतार, का० २१
६. अकलंक, न्याय विनिश्चय, का० २।१५४, १५५, पृ० १७७ (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी)
७. कुमारनन्दि, प्रमाण परीक्षा, सनातन जैन ग्रन्थमाला, पृ० ७२
८. वीरसेन, षट्खंडागम टीका, धवला, ५।५।५१, ५।५।४३
९. विद्यानन्द, प्रमाण परीक्षा, सनातन जैन ग्रन्थमाला, पृ० ६२
१०. कुमारनन्दि, प्रमाण परीक्षा, पृ० ७२, अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोरलक्षणामीरितम् ।
११. सिद्धसेन, न्यायावतार, का० २२
१२. अकलंक, न्यायविनिश्चय, का० २६९, प्रमाण संग्रह, का० २१

ही सीमित मानते हैं।^१ अकलंक ने धर्मकीर्ति की आलोचना करते हुए बताया है कि कितने ही हेतु ऐसे हैं जिनमें न पक्ष धर्मत्वादि है न वे उन तीन हेतुओं के ही अन्तर्गत हैं, पर उनमें अविनाभाव पाया जाता है।^२ उदाहरण स्वरूप, “भविष्यत् प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्।” यहाँ कृत्तिका का उदय हेतु पक्ष शकट में नहीं रहता, अतः उसमें पक्षधर्मत्व नहीं है। इसी प्रकार कृत्तिका का उदय शकटोदय का न स्वभाव है और न कार्य। उपलम्भ रूप होने से उसके अनुपलम्भ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए केवल अविनाभाव के द्वारा वह अपने उत्तरवर्ती शकटोदय का गमक है।^३

इस प्रकार हम देखते हैं कि हेतु का त्रिलक्षण-सिद्धांत निर्दोष नहीं है। इसके विपरीत अविनाभाव एक ऐसा व्यापक एवं अव्यभिचारी लक्षण है जो समस्त सत् हेतुओं में पाया जाता है, तथा असद् हेतुओं में नहीं। इसीलिए अकलंक ने पात्र केसरी के “अन्यथानुपपन्नत्वं” सिद्धांत को अपनाकर उसे ही हेतु का अव्यभिचारी और प्रधान लक्षण कहा है। सबको पक्ष बना लेने पर सपक्ष का अभाव होने से सपक्षत्व नहीं है, अतः अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बंधों से नियंत्रित नहीं है, बल्कि वे अविनाभाव से नियंत्रित हैं। आचार्य वीरसेन^४ ने भी साध्याविनाभावी और अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण से युक्त बतलाया है तथा पक्षधर्मत्वादि को हेतु लक्षण मानने में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष बताए हैं। जैसे “यह भूमि समतल है क्योंकि भूमि है, समतल रूप से प्रसिद्ध भूभाग की तरह।” इसके विपरीत अनेक हेतु ऐसे हैं जो त्रिलक्षण नहीं है पर अन्यथानुपपत्ति मात्र के सद्भाव के गमक हैं, जैसे “रोहिणी उदित होगी, क्योंकि कृत्तिका का उदय अन्यथा नहीं हो सकता।” इसका तर्क है—“इदमन्तरेण इदमनुपपन्नम्।” जिसका पर्यायवाची होगा—“अन्यथानुपपन्नत्वम्।” विद्यानंद^५ ने अकेले अन्यथानुपपत्ति के सद्भाव से ही तीनों दोषों (विरुद्ध, असिद्ध, अनैकांतिक) का निराकरण हो जायेगा। जहाँ ये तीनों दोष रहेंगे, वहाँ अन्यथानुपपत्ति होगी नहीं। जो हेतु अन्यथा उपपन्न है या साध्याभाव के साथ रहता है या साध्याभाव में भी विद्यमान रहता है वह अन्यथानुपपन्न कैसे कहा जा सकता है। अतः जब एक अन्यथा नुपपन्नत्व लक्षण से उन तीनों दोषों का परिहार हो जाता है तो फिर उसके निराकरण के लिए हेतु के तीन लक्षणों को मानने की जरूरत ही नहीं है।

१. अकलंक, लघीयस्त्रय, का० १२

२. अकलंक, न्याय विनिश्चय, का० ३७०, ३७१

३. धर्मकीर्ति, हेतु बिन्दु, पृ० ५४

४. अकलंक, लघीयस्त्रय, का० १३, १४

५. अभय चन्द्र सूरि, लघीयस्त्रय तात्पर्यवृत्ति, माणिव्ययं ग्रन्थ पृ० ३३

इसलिए जब अविनाभावी हेतु के प्रयोग और प्रत्यक्षाविरुद्ध साध्य के निर्देश से तीनों दोषों के साथ बाधित विषय और सत्यतिपक्ष हेतु दोषों का भी निरास हो जाता है,^१ अतः उसके निराकरण के लिए उद्योतकर^२, जयंत, वाचस्पति आदि नैयायिकों द्वारा समर्पित पांच हेतु लक्षण को मानना ही व्यर्थ है। जहां अन्यथानुपपन्नत्व है, वहां पांच रूप रहकर भी कुछ नहीं कर सकता—

अन्यथानुपपन्नत्वं सर्वैः किं पंचमि कृतम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचमि कृतम् ॥^३

वादिराज^४ ने भी “सहस्र में सौ” न्याय के अनुसार त्रैरूप्य-समीक्षा को इसी पंचरूप समीक्षा में विलीन कर दिया है। वादीभसिंह^५ के अनुसार तो जथोपपत्ति ही अन्यथानुपपत्ति है और वे उसे ही अंतर्व्याप्ति मानते हुए हेतु का स्वरूप स्वीकार करते हैं। माणिक्यनंदि के^६ अनुसार जिसका साध्या-विनाभाव निश्चित है, उसे हेतु कहा जाएगा जो साध्य का गणक होगा। उन्होंने अविनाभाव का नियामक बौद्धों की तरह तदुत्पत्ति और तादात्म्य को न बतलाकर सहभाव नियम और क्रमभावनियम को बताया है क्योंकि जिनमें तदुत्पत्ति और तादात्म्य नहीं है उनमें भी क्रमभाव नियम अथवा सहभाव नियम के रहने से अविनाभाव प्रतिष्ठित होता है और उसके बलपर हेतु साध्य का अनुमापक होता है। जैसे भरणि और कृत्तिकोदय में न तदुत्पत्ति है न तादात्म्य किन्तु उनमें क्रमभाव नियम होने से अविनाभाव है। जैन तार्किकों में उपर्युक्त के अलावे प्रभाचंद्र,^७ अनतिवीर्य,^८ अभयदेव,^९ देवसूरि,^{१०} हेमचंद्र,^{११} धर्मभूषण,^{१२} यशोविजय,^{१३} चारुकीर्ति,^{१४} आदि विद्वानों ने हेतु के

१. वीरसेन, षट्खंडागम टीका, धवला, ५।५।५, पृ० २८७
२. विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ६२
३. वही, पृ० ७२
४. वादिराज, न्याय विनिश्चय विवरण, काशी, भारतीय ज्ञान पीठ, २।१७४, पृ० २१०
५. वादिभ सिंह, स्याद्वाद सिद्धि, मा० दि० जैन ग्रन्थ माला, ४-७८, ७९
६. माणिक्यनन्द, परीक्षामुखम् सूत्र, ४।८२-८३, ८४, ८७-८८
७. प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमल मार्त्तण्ड, बम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १।१५
८. अनतिवीर्य, प्रमेयरत्नमाला, चौखंभा सं० सि०, १।११, पृ० १४२-४४
९. अभय देव, सन्मति प्रकरण टीका, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद
१०. देवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, अहंत् प्रभाकर, पूना, ३।११
११. हेमचंद्र, प्रमाण मीमांसा, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, १।२, ९, १०
१२. धर्मभूषण, न्यायदीपिका, पृ० ८३
१३. यशोविजय, जैन तर्कभाषा, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृ० १२
१४. चारुकीर्ति, प्रमेयरत्नालंकार, मैसूर, ३।१५

त्रैरूप्य एवं पंचरूप्य की विवेचना के पश्चात् अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का असाधारण एवं प्रधान लक्षण बत या है। जब हेतु को अन्यथानुपपन्न कहा जाएगा तो वह साध्य के साथ अवश्य रहेगा, उसके बिना वह उत्पन्न ही नहीं होगा और न साध्याभाव के साथ रहेगा। इस तरह त्रिविध दोष-असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकांतिक का परिहार हो जायगा। इसका समान-बलशाली कोई प्रतिपक्ष हेतु भी सम्भव नहीं है अतः हेतु का पांचवा रूप भी व्यर्थ है।

इसी तरह षड्लक्षण हेतु (ज्ञातृत्व) को भी पृथक् मानना आवश्यक है क्योंकि हेतु ज्ञात ही नहीं, अविनाभावी रूप से निश्चित होकर ही साध्य का अनुपपन्न होता है जो हेतु के लिए प्राथमिक शर्तें हैं।^१ इसी तरह विवक्षितैक संख्यत्व का कथन भी जो असत्प्रतिपक्षत्व रूप है, अनावश्यक है क्योंकि अविनाभावी हेतु के प्रतिपक्षी किसी द्वितीय हेतु की संभावना नहीं है जो प्रकृत हेतु की विवक्षित एक संख्या का विघटन कर सके। अतः त्रिविधैक संख्यत्व असत्प्रतिपक्षत्व स्वरूप भी अनावश्यक है। कर्णगोमि ने रोहिणी के उदय का अनुमान कराने वाले कृत्तिकोदय हेतु में काल या आकाश को पक्ष पक्षधर्मत्व घटाने का प्रयास किया है किन्तु विद्यानंद ने कहा कि इस प्रकार परम्पराश्रित पक्ष बनाकर पक्षधर्मत्व ही सिद्ध करने से तो पृथिवी को पक्ष बनाकर महान संगत धूम से समुद्र में भी काल आकाश और पृथिवी आदि को अपेक्षा पक्षधर्मत्व घटाया जा सकेगा और इस तरह कोई व्यभिचारी हेतु अपक्ष धर्म न रहेगा।

उपसंहार

जैन दर्शन ने हेतु-स्वरूप में द्विलक्षण से लेकर षड्, सप्त लक्षणों को अध्याप्त तथा अतिध्याप्त दिखाते हुए उन्हें हेतु-लक्षण नहीं माना है। उन्होंने हेतु का एक ही लक्षण माना है—अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व। किन्तु इसपर सरलीकरण का दोष लगाया जा सकता है लेकिन जिस प्रकार हेतु के एक-एक भ्रांत स्वरूप का खंडन कर उसे निरर्थक बताया गया है, इससे इनको तार्किक प्रतिभा एवं सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। जब अन्यथानुपपन्न या अविनाभाव के नहीं रहने पर हम किसी के हेतु नहीं मान सकते, तो फिर उसे ही मानना अनिवार्य है। फिर द्विलक्षणादि नहीं मानने से कोई हानि भी तो नहीं है तो फिर उन्हें मानना व्यर्थ एवं निरर्थक है।

१. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख, ३।१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।

आगम का गंगावतरण

जिस प्रकार कैलाश स्थित भगवान् शिव की जटाओं में उलभी गंगा को पृथ्वी पर लाने का श्रेय भागीरथ को है, उसी प्रकार आधुनिक युग में पाठान्तरों, भाष्य, टीका एवं चूर्ण आदि में उलभे जैनागमों को शब्द सूची, संस्कृत छाया और यहां तक कि हिन्दी अनुवाद के साथ संपादन सचमुच आगम का गंगावतरण ही है। तेरापंथ के नवम आचार्यश्री तुलसी धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिये जब महाराष्ट्र में घूम रहे थे तो पूना के पास मनसर नामक एक छोटी जगह में “धर्मदूत” नामक एक पत्रिका देखी जिसमें बौद्धों के विशाल त्रिपिटक के पुनः संपादन का समाचार था। आचार्यश्री ने एक ओर तो बौद्धों के भाग्य को सराहा लेकिन दूसरी ओर चोट लगी कि जैन समाज कितना अभाग्य है कि उसने आगमों को मंदिरों एवं जैन ग्रन्थालयों की काल-कोठरी में कैद रखा है ! फिर सोचा वे स्वयं ही इस गुस्तर दायित्व को क्यों नहीं उठावें। अपने परम सहयोगी एवं शिष्य मुनि नथमलजी से परामर्श करके औरंगाबाद में वि०सं० २०११ की चैत्र सुदी त्रयोदशी भगवान, महावीर जयन्ती के अवसर पर आगमों के हिन्दी अनुवाद एवं संपादन की घोषणा कर दी। इसके पूर्व इन्हें संपादन का कोई अनुभव नहीं था, इसलिये घोषणा करने में उन्हें काफी संकोच भी हुआ लेकिन यह तो पुरुषार्थ की परीक्षा थी। फिर उन्होंने सोचा कि जैनों के विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं और आचार्यों से सहयोग भी लिया जाये, ताकि यह सबों को मान्य हो। इसी क्रम में अपने आगरा प्रवास में उन्होंने श्री अमर मुनिजी से परामर्श किया लेकिन उन्होंने इस कार्य को दुरूह दुस्तर बताया। फिर जैन विद्या के प्रमुख आचार्य एवं विद्वान् पं० सुखलालजी, पं० बेचरदास, पं० दलसुख मालवणिया आदि से सम्पर्क किया लेकिन सबों से प्रायः निरुत्साहपूर्ण और रूखे उत्तर मिले। असल में उन विद्वानों ने आगम के अवगाहन की गंभीरता एवं दुरूहता का अनुभव किया था। भला जिसकी चूर्णियां उदार विद्वान् अगस्त्य सिंह स्थविर एवं जिनदास महत्तर की हों, जिनकी वाचना में भद्रवाहु, स्कन्दिल, नागार्जुन एवं देवद्विगणी ने पुस्तकारूढ़ किया हो, उसकी पुनर्वाचना या टीका आदि इस समय कोई कर सकेगा, यह कल्पना के बाहर बातें थीं। देवद्विगणी क्षमा श्रमण के पश्चात् आगम में कोई संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन नहीं हुआ, इसीलिये तो प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० रथ ने आगम की इस संपादन की योजना के विषय में सुना तो आचार्य तुलसी से कहा कि इसमें कम-से-कम

१०० वर्ष लगेंगे, लेकिन जो कुछ काम उन्हें दिखाया गया तो उन्होंने इतना ही कहा—“आचार्यजी ! आपको कोई देवता ही मदद कर रहे हैं । यों भी देखा जाय तो लगभग आगम भाष्य का काम आचार्य तुलसी ३७ वर्षों से कर ही रहे हैं ।

आगम संपादन में आचार्य तुलसी की दीर्घदृष्टि थी । उन्होंने इसके लिए तीन शर्तें रखी हैं—जो संभवतः सारस्वत-यज्ञ की साधना ही है ।

१. इस प्रत्येक कार्य में कोई वेतन-भोगी कार्यकर्ता नहीं होगा । सभी कार्यकर्ता अवैतनिक होंगे ।
२. यह कार्य पूर्णतः असांप्रदायिक दृष्टि से किया जायेगा ताकि जैनों के सभी संप्रदायों को एक सा मान्य हो सके ।
३. जो कार्य होगा वह इतना गंभीर एवं ठोस होगा कि उसे “अपूर्व” कहा जा सके ।

औरंगाबाद में महावीर जयन्ती में घोषणा के उसी साल के चातुर्मास में उज्जैन में आगमों की शब्द सूची के निर्माण का कार्यारम्भ हुआ, साथ-साथ हिन्दी अनुवाद एवं संस्कृत छाया का भी काम चलने लगा । सूत्र का अर्थ मूलस्पर्शी रखने के लिए व्याख्या ग्रन्थों की अपेक्षा मूल आगमों का आधार अधिक लिया गया । लक्ष्य यह रहा कि आगमों के द्वारा आगमों की व्याख्या हो क्योंकि आगम परस्पर अवगुंठित हैं । विशेष अर्थ यदि कहीं सूत्रों में स्पष्ट किये गये कालक्रम के अनुसार अर्थ भेद कैसे हुआ—यह भी बताया गया है । वैदिक और बौद्ध साहित्य से तुलना भी की गयी है । मौलिक अर्थ के अवगाहन में तटस्थ दृष्टि रखी गयी है । परम्परा-भेद के स्थलों को टिप्पणी में स्पष्ट किया गया । आगम साहित्य के संकलन की चार प्रमुख वाचनार्यें हुई हैं । पहली वाचना वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में पाटलीपुत्र में १२ वर्ष के दुष्काल स्वरूप और श्रमण संघ छिन्न-भिन्न होने के कारण श्रुतकेवली भद्रबाहु ने दी । दूसरी वाचना वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के मध्य में पुनः भीषण दुर्भिक्ष के कारण श्रमण-संघ के छिन्न-भिन्न होने से स्कंदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में हुई जो माथुरी वाचना कही जाती है । तीसरी वाचना भी वीर-निर्वाण के ८२७-८४० मध्य में वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई । इसलिये इसे नागार्जुनीय वाचन कहा जाता है । वेय की वाचना वीर निर्वाण की १० वीं शताब्दी में ९८०-९९३ वर्ष में वल्लभी में ही देवद्विगणी क्षमा-श्रमण की अध्यक्षता में हुई । इसके पश्चात् संशोधन, परिवर्द्धन या वाचना या संपादन का महत्तर कार्य आचार्य तुलसी, युवाचार्य एवं उनके साधु-संतों की सामूहिक साधना का ही प्रतिफल है ।

इस संपादन कार्य में सबके पहला कार्य था संशोधित पाठ संस्करण

तैयार करना, फिर उसकी संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद देना। पाद टिप्पण तो इतने प्रशस्त हैं कि कोई इनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न उठा ही नहीं सकते।

आगम संपादन का कार्य भारतीय विद्या के क्षेत्र में न वेद का हुआ है न त्रिपिटक का। वेद के कई संस्करण निकले हैं, कुछ भाष्य भी हैं, आर्य समाज ने किसी तरह का हिन्दी अनुवाद भी उपस्थित किया है किन्तु एक जगह वेद के विभिन्न पाठों का कार्य अभी हो नहीं पाया है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने पाली संस्थान से सम्पूर्ण त्रिपिटक का प्रकाशन जरूर कराया है लेकिन उसके साथ संपादन, संस्कृत एवं हिन्दी छाया आदि आदि का कार्य बाकी है। आचार्य तुलसी ने एक ही साथ ये सारे काम कर लिये। अतः यह सचमुच अपूर्व कार्य हुआ। यही कारण है कि पं० सुखलाल संघवी, पं० बेचरदास, पं० दलसुख मालवणिया, श्री जिनविजयजी महाराज आदि के मानस एवं हृदय में आचार्य तुलसी के इस आगम कार्य के प्रति प्रशस्ति के भाव जगे जो पहले उपहास एवं उपेक्षा के थे।

इस आगम कार्य के द्वारा उन्होंने न केवल अपने तेरापंथ समाज का बल्कि सम्पूर्ण जैन समाज को गौरवान्वित किया। आचार्य तुलसी द्वारा आगम का उद्धार वस्तुतः राम द्वारा अहिल्या का ही उद्धार जैसा कार्य है।

दूसरी बात यह है कि इसे साम्प्रदायिक संकीर्णता से भी अलग रखने की कोशिश की गयी है। अपने सम्प्रदाय के भी मत दिये हैं, लेकिन दूसरे सम्प्रदायों के मतों को भी उसी जगह बता दिया गया है। वैदिक एवं बौद्ध ग्रन्थों के भी तुलनात्मक उद्धरण पाद-टिप्पण में इतने प्रभूत हैं कि संपादनकार के वैदुष्य से अभिभूत होना स्वाभाविक है।

तीसरी बात है कि आगम जो अब-तक दुर्लभ होकर प्राकृत रूपी शिव की जटाओं में उलझा हुआ था उसे प्रत्येक शब्द के अर्थ, संस्कृत छाया और सबसे अधिक हिन्दी अनुवाद देकर जनमानस की पहुंच के अन्दर कर दिया गया है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने श्री रामचरित मानस की रचना संस्कृत के बदले जन भाषा हिन्दी में की, आचार्य तुलसी ने भी इसे करोड़ों-करोड़ हिन्दी भाषा भाषियों के लिये सुलभ कर दिया।

एक महत्त्व की बात यह है कि मूल से उन्होंने सबों का परिचय करा दिया। मूल आगम के छप जाने से अब जैन तत्त्व ज्ञान एवं जैनाचार के विषय में भ्रांतियां होने की कम गुंजाइश है। इससे साम्प्रदायिक विभेद भी घटने चाहिये। दिगम्बर-श्वेताम्बर, स्थानकवासी-मंदिर मार्गी आदि के भेद आगम में नहीं हैं अतः इन भेदों को भुला कर मूल को पकड़ना चाहिये। जैन धर्म का मूल है अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह। कर्मकांड आदि तो बाह्य आवरण हैं।

खण्ड=२
तत्त्व-दृष्टि

जैन-दर्शन का वैशिष्ट्य

किसी भी दार्शनिक विचार का महत्त्व इस बात में होना चाहिये कि वह प्रकृत वास्तविक समस्याओं पर बिना किसी पूर्वाग्रह के विचार करे। भारतीय दार्शनिक परम्परा में शब्द प्रमाण का प्रामुख्य इस प्रकार के दार्शनिक महत्त्व को कुछ कम ही कर देता है। लगता है कि किसी विचारधारा की रूपरेखा तो शब्द प्रमाण कर देता है और तत्त्व दर्शन केवल उसे विकसित करता है। लेकिन इसके विपरीत जैन दार्शनिक परम्परा में ऐसा प्रतीत होता है कि साफ स्लेट पर लिख रहा हो। दार्शनिक दृष्टि के विकास के लिए परम्परा-निर्मित पूर्वाग्रहों से मुक्त स्वतंत्र विचारधारा का निर्माण एक महत्त्व रखता है।

जैन दृष्टि में भी शब्द प्रमाण है लेकिन यह जैन दृष्टि का अनुगामी है, पुरोगामी नहीं। इस प्रकार जैन दर्शन की स्वायत्तता परिलक्षित होती है। इसीलिये लोकतत्त्व निर्णय में हरिभद्र ने कहा है :—

“पक्षपात न मे वीरे न रागादि कपिलादिषु।

युक्तिमद्ववचनं यस्य तस्य कार्यःपरिग्रहः॥

श्रुति या आगम का जितना ही अधिक बोझ होगा, दर्शन की तेजस्विता उतनी ही कम होगी।

जैन दर्शन का वैशिष्ट्य एक दूसरे अर्थ में भी है, वह है दर्शन के अर्थ में। दर्शन का अर्थ है दृष्टि-दृश्यते इति अनेन दर्शनम्। किसी भी तत्त्व के परीक्षण में हमारी दृष्टि हमारी शक्ति, परिस्थिति या अधिकारिता पर निर्भर करती है। इस अर्थ में दर्शन व्यक्ति के दृष्टिभेद से प्रभावित होगा। दृष्टिभेद से दर्शन भेद होता ही है। किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक होना उचित नहीं है क्योंकि तत्त्व अनेकान्तिक है— “अनन्तधर्मात्मकं वस्तु”—प्रत्येक तत्त्व अनेक-रूपात्मक है। इसीलिये कोई एक और ऐकान्तिक दृष्टि से उन सबों का एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकता। भारतीय दर्शन में, वैदिक दर्शन में अद्वैत-दृष्टि, बौद्ध दर्शन में विभज्यवादी दृष्टि, लोकायत-दर्शन में मौलिक दृष्टि है। ये सभी दृष्टियाँ ऐकान्तिक हैं। किन्तु जैन दृष्टि अनेकान्तिक है। इसी सत्य को ऋग्वेद में भी मुखरित किया गया है—

“एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति”

यों एक प्रकार से बौद्ध एवं अद्वैत दर्शनों ने सत्ता के स्तर मानकर

प्रकारान्तर से अनेकांत दृष्टि को स्वीकार किया है। जैसे माध्यत्मिक बौद्धों ने परमार्थ, लोकसंवृति और अलोकसंवृति तीन अवस्थायें मानी हैं। जिस शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के “नैकस्मिन् असंभवात्” सूत्र के भाष्य में अनेकान्त-वाद स्याद्वाद पर प्रखर प्रहार किया है, वही स्वयं तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में परमार्थ, व्यवहार एवं प्रतिभास—सत्य की तीन अवस्थायें मानकर स्याद्-वाद-दृष्टि का अधिक से अधिक प्रयोग करने वाला चिंतक सिद्ध हुआ। आधुनिक युग में आइन्स्टीन का सापेक्षवाद और डेलरेपी जैसे दार्शनिकों का द्वादशभंगी दृष्टिकोण हमारे सामने है। इस दृष्टि से जैनों की अनेकांत दृष्टि दर्शन की सबसे निर्दोष विधा है, जो किसी ऐकान्तिक दृष्टि-विशेष से आवद्ध नहीं है।

इस अनेकांतवाद की भूमिका साम्य-दृष्टि में है। साम्य-दृष्टि का जैन परम्परा में वही महत्त्व है जो ब्राह्मण परम्परा में ब्रह्म का है। श्रमण धर्म की प्राणभूत साम्य भावना (सामाज्य=सामायिक) का प्रथम स्थान है जो आचारांग सूत्र कहलाता है और जिसमें भगवान् महावीर के आचार-विचार का सीधा एवं स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। यह धार्मिक जीवन स्वीकार करने की गायत्री है। जब गृहस्थ या त्यागी कहता है—“करेमि भंते सामाज्यं।” इसके दूसरे सूत्र में सावद्ययोग है जिसमें पाप व्यापार के त्याग का संकल्प है। यह साम्य दृष्टि विचार एवं आचार दोनों में प्रकट हुई है। विचार में साम्यदृष्टि से ही अनेकांतवाद का आविर्भाव हुआ। केवल अपनी दृष्टि को पूर्ण एवं अन्तिम सत्य मानकर उस पर आग्रह रखना साम्य-दृष्टि के लिये घातक है। इसलिये यह माना गया है कि दूसरों की दृष्टि का उतना ही आदर करना चाहिये जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्य दृष्टि अनेकांत की भूमिका है। इसी से भाषा-प्रधान स्याद्वाद एवं विचार-प्रधान नयवाद का कमशः विकास हुआ है। जैनैतर दार्शनिक भी अनेकांत भावना को स्वीकार करते हैं लेकिन जैन दर्शन की यही विशेषता है कि अनेकांत का स्वतंत्र शासन ही रच डाला। जैन दर्शन का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब आचार साम्यदृष्टि मूलक अहिंसा के आस-पास ही निर्मित हुआ है। जिन आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा या पुष्टि न होती हो, ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्यता नहीं देती। इसलिये अहिंसा को यहाँ इतना व्यापक एवं गम्भीर बताया गया। अहिंसा केवल मानव-धर्म के रूप में नहीं बल्कि मानवतेर यानी पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वनस्पति तथा जैवीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार जगत का अनेकांत ही नैतिक जगत में अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है। अतः जहाँ अन्य दर्शनों में दूसरों के मतों के खण्डन पर ज्यादा

जोर दिया गया है, वहाँ जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकांत सिद्धांत के आधार पर वस्तुस्थिति मूलक विभिन्न मतों का समन्वय करना रहा है। असल में बौद्धिक स्तर पर इस सिद्धांत को मान लेने से मनुष्य के नैतिक और लौकिक व्यवहार में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। विचार में अनेकांत की प्रतिष्ठा से जीवन में संकीर्णता या शास्त्रार्थ में अपनी विजय के लिये छल, जल्प, वितराडा की प्रवृत्तियाँ न होना समन्वय एवं साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता का भ्रम आयेगा। आज विश्व में जाति, धर्म, सम्प्रदायों एवं विचार-धाराओं का इतना वैविध्य है कि यदि एक व्यापक मानवीय दृष्टि से अनेकांत मूलक समन्वय की दृष्टि नहीं रखी जायेगी तो फिर सामाजिक जीवन दुःखमय हो जायेगा। अनेकान्त दृष्टि आचार साधना में अहिंसा, समाज-साधना में समन्वय और धर्म साधना में सर्व-धर्म सद्भाव के जीवन मूल्य को स्थापित करेगी। अतः अनेकांत कोरा दर्शन नहीं है, वह साधना है। एकांगी आग्रह राग-द्वेष से प्रेरित होते हैं। जैसे-जैसे राग-द्वेष क्षीण होता है, वैसे-वैसे अनेकांत दृष्टि विकसित होती है और जैसे-जैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है, वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। दर्शन सत्य का साक्षात्कार है। राग-द्वेष में फैला व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार कर ही नहीं सकता। दर्शन सत्य की उपलब्धि के लिये है। मनुष्य अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों के कारण सत्य से कम आकर्षित हुआ और उसके आकर्षण का केन्द्र सत्य के बदले सत्य का संस्थान यानी सम्प्रदाय बन गया। सम्प्रदाय ने सत्य पर इतने आवरण डाले कि धर्म की सुरक्षा के लिये अधर्म, अहिंसा की सुरक्षा के लिये हिंसा और सत्य की सुरक्षा के लिये असत्य का आचरण वर्जित नहीं रहा। लेकिन जैन दर्शन सत्य को जानने के लिये अनेकांत दृष्टि और अनेकांत दृष्टि पाने के लिये राग-द्वेष क्षय के आध्यात्मिक जीवन पर जोर देता है।

इसीलिये तत्त्व की स्थापना के लिये तर्क को एक सापेक्ष आलम्बन माना गया है। अपने अभ्युपगम की स्थापना और परकीय अभ्युपगम के लिये तर्क उसी सीमा तक हो जिनसे पर-पक्ष को मानसिक आघात न लगे। अपने विचार की पुष्टि अपने लिये नहीं बल्कि अहिंसा की पुष्टि के लिये है। अहिंसा का खंडन कर दूसरे के अभ्युपगम का खण्डन करना वास्तव में अपना अभ्युपगम खण्डन करना है। अतः जैन दर्शन एक दर्शन नहीं, दर्शनों का समुच्चय है। अनन्त दृष्टियों से सह-अस्तित्व को मान्यता देने वाला एक दर्शन नहीं हो सकता।

जैन दर्शन को बहुधा नास्तिक कह दिया जाता है क्योंकि “नास्तिको वेदानन्दकः” : न्याय; तथा कर्ता-संहर्ता रूप से ईश्वर जैसी स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार करना दोनों जैन दर्शन में लागू होता है। किन्तु

पाणिनी के “अस्ति-नास्ति दिष्टमतिः” के अनुसार जैन दर्शन को हरगिज नास्तिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह इन्द्रियातीत तथ्य यानी परलोक की सत्ता को माननेवाला है। जैन दर्शन कर्ता-धर्ता-हर्ता रूपी ईश्वर को तो स्वीकार नहीं करता है लेकिन इसके अनुसार प्रत्येक जीव अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है। तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है जो मुक्ति के समय प्रकट होता है। योगशास्त्र सम्मत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता, संहर्ता नहीं है।

आस्तिकता को यदि विश्व की शाश्वत नैतिक व्यवस्था के रूप में लिया जाय तो जैन दर्शन की आस्तिकता पर कोई अंगुली नहीं उठा सकता क्योंकि इस शाश्वत नैतिक व्यवस्था में इसे दृढ़ विश्वास है।

जैन दर्शन में इस जगत् को अनादि माना गया है। अनन्त सत्त्व अनादि काल से अनादिकाल तक क्षण-क्षण विपरिवर्तमान होकर अपनी मूल-धारा में प्रवाहित होता है क्योंकि उनके पश्चात् संयोग एवं वियोग से यह सृष्टिचक्र स्वयं संचालित है। किसी एक बुद्धिमान ने बैठकर असंख्य कार्य-कारण भाव और अनन्त स्वरूपों की कल्पना की हो और वह अपनी इच्छा से जगत् का नियंत्रण करता हो, यह वस्तुतः स्थिति के प्रतिकूल तो है ही अनुभवगम्य भी नहीं है। विश्व अपने पारस्परिक कार्यकारण भावों से स्वयं सुव्यवस्थित और सुनिश्चित है।

जैन दार्शनिक वाङ्मय के विकासक्रम को चार युगों में विभक्त किया गया है—आगम, अनेकांतस्थापना, प्रमाणशास्त्र व्यवस्था एवं नवीन न्याय युग। युगों के लक्षण नाम से ही सुस्पष्ट हैं। काल मर्यादा का निर्धारण इस समय हमारा अभीष्ट नहीं है, यों इसमें मतभेद भी हैं। जैन तत्त्व विचार की प्राचीनता में संदेह तो नहीं ही है, इसकी स्वतंत्रता भी इस बात से सिद्ध है कि जब उपनिषदों में अन्य शास्त्रों के बीज मिलते हैं लेकिन जैन तत्त्व विचार के बीज नहीं मिलते। इतना ही नहीं, भगवान् महावीर प्रतिपादित आगमों में जो कर्मविचार है मार्गणा और गुणस्थान, जीवों की गति एवं अगति, लोक-व्यवस्था एवं रचना, जड़-परमाणु पुद्गलों की वर्गणा और पुद्गल स्कन्ध, द्रव्य एवं नवतत्त्व का जो व्यवस्थित विचार है, उन सबों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि जैन तत्त्व विचार धारा भगवान् महावीर से भी पूर्व कई पीढ़ियों की अध्यात्मोन्मुख सारस्वत साधना का प्रतिफल है और इस धारा का उपनिषद् प्रतिपादित अनेक मतों से पार्थक्य है, अतः इसका स्वातंत्र्य स्वयंसिद्ध है। जैन दर्शन का अनेकांतवाद भगवान् महावीर की विशेष देन है। इसी के बाद होने वाले जैन दार्शनिक ने जैन तत्त्व विचार को ही अनेकांतवाद के नाम से प्रतिपादित करते हुए भगवान् महावीर को उसका उपदेशक बताया। विचार के विकासक्रम और पुरातन इतिहास के

चिन्तन से स्पष्ट दिखता है कि अनेकान्त दृष्टि का मूल भगवान से भी पुराना है, हाँ वह अनेकांत का व्यवस्थित रूप महावीर से पूर्ववर्ती जैन या जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता है, भले ही उसके बीज वैदिक, बौद्ध एवं जैन सभी परम्पराओं में न्यूनाधिक उपलब्ध हों। भगवान महावीर ने अनेकांत दृष्टि को अपने जीवन में उतारा था और उसके बाद ही दूसरों को इसका उपदेश दिया था। उसमें अनुभव एवं तप का बल है, भले ही तर्कवाद या खण्डन मंडन का जटिल जाल नहीं हो। भगवान महावीर के अनुगामी आचार्यों में प्रज्ञा एवं त्याग तो था लेकिन स्पष्ट जीवन हो उतना अनुभव और तप नहीं था। इसीलिये वाद, जल्प एवं वितराडा का भी सहारा लिया। इस खण्डन, मंडन, स्थापन, प्रचार के दो हजार वर्षों में महावीर के शिष्यों ने अनेकांत दृष्टि विषयक इतना ग्रंथ समूह बना डाला। इस क्रम में समन्त-भद्र और सिद्धसेन, हरिभद्र और अकलंक, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र, अभयदेव और वापिपवेशी, हेमचन्द्र एवं यशोविजय जी जैसे प्रचंड विचारकों ने अनेकांत दृष्टि के बारे में जो लिखा वह भारतीय दार्शनिक साहित्य की अमूल्य निधि है। सबसे महत्वपूर्ण तो यह तथ्य है कि अनेकान्त दृष्टि का प्रभामंडल असाधारण है। वादरायण जैसे सूत्रकारों ने उसका खण्डन करने के लिए सूत्र रच डाले और बाद में उस सूत्र के भाष्यकारों ने भाष्यों की रचनायें कीं। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शांतरक्षित जैसे प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने अनेकांतवाद की पूरी आलोचना की, फिर जैन विद्वानों ने उन आक्षेपों के उत्तर दिये। इस प्रचण्ड संघर्षण के परिणामस्वरूप अनेकांत दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और उसका प्रभाव भी अन्य सम्प्रदायों के विद्वानों पर पड़ा। रामानुज ने अनेकान्त दृष्टि से विशिष्ट द्वैतवाद का और वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद का खण्डन किया।

अनेकांत युग के पश्चात् प्रमाणशास्त्र व्यवस्था युग आता है। जिस प्रकार असंग-वसुबन्धु ने बौद्ध विज्ञानवाद की स्थापना की किन्तु प्रमाण-शास्त्र की रचना एवं स्थापना का कार्य तो दिङ्नाग ने किया, जिसके उत्तर में प्रशस्तपाद, उद्योतकर, कुमारिल सिद्धसेन, मल्लवादी, सिंहगणि, पूज्यपाद, समन्तभद्र, ईश्वर सेन, अविद्धकर्ण आदि ने अपने अपने दर्शन में प्रमाणशास्त्र का समर्थन किया तथा दिङ्नाग ने, टीकाकार धर्मकीर्ति और उनके शिष्य अर्चक, उद्योतकर, शांतरक्षित, प्रज्ञाकर गुप्त आदि हुए और दूसरी ओर बोद्धेतर दार्शनिकों में प्रभाकर, उम्बेक, व्योमशिव, जयंत, सुमति, पात्रस्वामी, मंडन आदि हुए जिन्होंने बौद्ध पक्ष का खण्डन किया। इसी विचार-संघर्ष के चार शताब्दिकाल में हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, शाकटायन, अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्द, सिद्धर्षि, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, वादिराज, जिनेश्वर, चन्द्रप्रभ, अनन्तवीर्य, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेण, शान्ता-

चार्य, रत्नपुत्र सिंह, व्याघ्रशिशु, रामचन्द्र सूरि, धर्मभूषण, राजशेखर, सोमतिलक आदि अनेक जैन नैयायिक हुए। फिर वि. तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय की प्रतिभा ने नव्य न्याय का युग प्रारम्भ किया। यह इतना महत्त्वपूर्ण हुआ कि बिना इस नव्य न्याय की शैली में प्रवीण हुए कोई दार्शनिक सभी दर्शनों के विकास का पारगामी नहीं हो सकता। किन्तु जैन दर्शन इन पांच शताब्दियों में दार्शनिक विकास से वंचित रहा और इस शैली को न अपनाने के कारण अपरिष्कृत रह गया। १६वीं शताब्दी में यशोविजय ने संवत् १६९९ में इस अभाव को पूर्ण किया और अनेकांत-व्यवस्था नामक स्वतंत्र ग्रन्थ नव्यन्याय की शैली में जैन दर्शन को प्रवेश दिलाया। फिर यशस्वत् सागर (सं० १६५६), विमलदास, आचार्य विजयनेमि एवं उनके शिष्यगण हुए। लेकिन जैन दर्शन के विकासक्रम में कोई नये विचार का सृजन नहीं हो सका। यह भारतीय चिन्तन धारा की दुर्बलता है कि हम में अतीत के प्रति अत्यन्त मोह रहता है। वैदिक दर्शन में वेद-वेदान्त से लेकर विवेकानन्द, बौद्ध दर्शन में भगवान बुद्ध से लेकर नव बौद्ध चिन्तन और जैन दर्शन में भगवान महावीर से लेकर आज तक दार्शनिक क्षेत्र में कोई नवीन चिन्तन खड़ा नहीं हो सका है। पं० सुखलाल संघवी ने १९४९-५१ तक “जैन साहित्य की प्रगति” की समीक्षा करते हुए लिखा है कि हमारी चिरकालीन संघशक्ति इसलिये कार्यक्षम सावित नहीं होती कि उसमें नवदृष्टि का प्राण स्पन्दन नहीं है।”

युक्त्यनुशासन का सर्वोदय-तीर्थ

सर्वोदय की भावना चाहे जितनी प्राचीन और व्यापक क्यों न हो आधुनिक युग में यह शब्द गांधी विचार से जुड़ गया है। मेरी जानकारी में संस्कृत के प्रामाणिक शब्दकोषों में भी इस शब्द का उल्लेख नहीं है। लेकिन जैन दार्शनिक वाङ्मय के सिंहावलोकन से यह पता चलता है कि आगम युग के बाद ही अनेकांत-स्थापना युग में सिद्ध सारस्वत स्वामी समंतभद्र ने अपनी पुस्तक 'युक्त्यनुशासन' में 'सर्वोदय तीर्थ' का प्रयोग किया है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं

सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं

सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६२॥

यहां सर्वोदय-तीर्थ, विचार-तीर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यही धर्म-तीर्थ भी है। यही जैन तत्त्व ज्ञान का मर्म है। लेकिन सर्वोदय-तीर्थ अनेकांतात्मक शासन के रूप में व्यवहृत हुआ है। अनेकांत विचार ही जैन दर्शन, धर्म और संस्कृति का प्राण है। यह भगवान् महावीर से भी पुराना है। जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् महावीर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तत्त्व-चिंतन का प्रचार किया, स्वयं अपना कोई स्वतंत्र और नवीन विचार-तंत्र नहीं रखा। यही नहीं, भगवान् पार्श्वनाथ ने अरिष्टनेमि की परम्परा का पालन किया और अरिष्टनेमि ने प्रागैतिहासिक काल के तीर्थंकर नमिनाथ के विचार-तत्त्व को अपनाया। इसी तरह हम प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तक पहुंच जाते हैं जहां हमें वेद से लेकर उपनिषद् तक सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य का मूल स्रोत मिलता है। अतः जैन चिंतन एवं तत्त्वज्ञान के पीछे भगवान् महावीर से पूर्व भी अनेक पीढ़ियों के परिश्रम एवं साधना का फल है।

जीव-अजीव भेदोपभेद, मोक्ष, कर्मशास्त्र, लोकरचना, परमाणुओं की वर्गणाओं आदि के प्रश्नों पर भगवान् महावीर ने प्राचीन जैन परम्पराओं को स्वीकार किया लेकिन जीव-परमाणु का संबंध निरूपण आदि के प्रश्नों पर उन्होंने एक नवीन दार्शनिक दृष्टि प्रदान की जो उनका सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान है। हमें यह मालूम होना चाहिये कि एक आधारभूत पृष्ठभूमि होती है। शांकर मत में 'अद्वैतदृष्टि', बौद्ध मत में विभज्य दृष्टि, जैन विचार में अनेकांत दृष्टि, हीगेल में द्वन्द्वदृष्टि, मार्क्स की आर्थिक और फ्रायड की काम

दृष्टि है। इन दर्शनों में तात्त्विक विचारणा अथवा आचार-व्यवहार चाहे जो भी हों, वे सब अपनी-अपनी आधार दृष्टि को ध्यान में रखकर ही चलते हैं। यही उनकी अपनी विशिष्टता या कसौटी होती है। यह ठीक है कि सभी महान् पुरुषों के जीवन का लक्ष्य सत्यान्वेषण होता है फिर भी सत्य-निरूपण की अपनी-अपनी पद्धति होती है। जैन दर्शन की यह दृष्टि अनेकांतात्मक है जिसे युक्त्यनुशासन में सर्वोदय-तीर्थ कहा गया है।

जहाँ अनेकांतदृष्टि जैन दर्शन का प्राण और जैन संस्कृति का हृदय है, वहाँ जैनेतर दर्शनों का भी अनेकांत कई अर्थों में आश्रय देखा जाता है। आचार्य शान्तिरक्षित ने यह स्पष्ट किया है कि जैनों के अलावा मीमांसक और सांख्य दर्शनों में भी अनेकांतदृष्टि का अवलम्बन किया गया है। यह ठीक है कि मीमांसा और सांख्य-योग दर्शनों में भी अनेकांत विचार जैन ग्रन्थों की भांति स्पष्ट नहीं हो सका और न उतना व्यापक ही है। अद्वैत-वेदान्त ने भी जिस प्रकार परमार्थ, व्यवहार एवं प्रतिभास के सापेक्षवाद का प्रतिष्ठापन किया है, उसी प्रकार माध्यमिक बौद्धों ने भी परमार्थ, लोक-संवृत्ति और अलोकसंवृत्ति नाम से सत्य की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। संक्षेप में प्रत्येक विचार किसी दृष्टि से किसी अवस्था में सत्य है। शायद इन्हीं कारणों से शंकर को सोपानवादी भी कहा गया है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति भी इसी सापेक्षवाद का संकेत करते हैं। प्रख्यात निरपेक्षवादी ब्रैडले भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक भ्रांति में सत्य का यत्किंचित् अंश रहता है। एक तमिल लोकोक्ति में कहा गया है—“दृष्टे किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्”। इसका अर्थ होता है कि अपने दृष्टि बिन्दु के साथ ही अन्य दृष्टिबिन्दु भी हैं। यह तभी संभव है जब हमारे हृदय में सहानुभूति की भावना हो जो दया या करुणा नहीं, बल्कि दूसरे की भावनाओं में प्रवेश करके उसे समझने का प्रयास है।

सत्यान्वेषी वैदिक ऋषि दीर्घतमा विश्व के मूल कारण एवं स्वरूप का अन्वेषण करते हुए अनेक प्रश्न कर अन्त में यह कह देते हैं—“एकं सः विप्राः बहुधा वदन्ति।” दीर्घतमा के इस उद्गार में मानव स्वभाव की विशेषता स्वरूप समन्वयशीलता का दर्शन होता है जिसका शास्त्रीय रूप ही अनेकांतवाद में परिलक्षित होता है। नासदीय सूक्त (X.120) में ‘सत्’ एवं ‘असत्’ जैसे सभी मतवादों का समन्वय है।

इसी प्रकाश भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग के अवलम्बन के लिए ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ का उपदेश किया। (संयुक्त निकाय, XII.35.2; अंगुत्तर निकाय, ३) विभज्यवाद। शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद दोनों को छोड़कर मध्यम मार्ग का उपदेश देता है। (संयुक्त निकाय, XII. 17; XII. 24)। जिस प्रकार उपनिषदों ने आत्मवाद एवं ब्रह्मवाद की पराकाष्ठा के साथ

आत्मा और ब्रह्म को नेति, नेति द्वारा अवक्तव्य एवं सभी विशेषणों से परे बताया है, (मांडूक्य VI. बृहद्, VI ५.१५) उसी प्रकार तथागत बुद्ध ने भी आत्मा के विषय में उपनिषदों से बिल्कुल विपरीत मान्यता रखते हुए भी उसे अव्याकृत माना है। जिस प्रकार उपनिषद् ने परमतत्व को अवक्तव्य मानते हुए भी अनेक प्रकार से आत्मा का वर्णन किया, उसी प्रकार बुद्ध ने लोकसंज्ञा, लोकनिरुक्ति, लोक व्यवहार एवं लोक प्रज्ञप्ति का आश्रय लेकर "मैं पहले था, नहीं था, ऐसा नहीं," "मैं भविष्य में होऊंगा, नहीं होऊंगा, ऐसा नहीं," "मैं अब नहीं हूँ ऐसा नहीं"—ऐसी भाषा का व्यवहार करते थे। (दीघनिकाय, पोट्ट-पाद सुत्त ९)।

मनुष्य स्वभाव समन्वयशील तो है ही किन्तु सम्भवतः कई कारणों से जब इस स्वभाव का आविर्भाव ठीक से नहीं हो पाता है तो दार्शनिकों में विवाद देखा जाता है एवं फिर पूर्वाग्रह के कारण विरोध प्रकट होता है। इसीलिये भगवान् बुद्ध को प्रश्नों का उत्तर "अव्याकृत" कह कर देना पड़ा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि समन्वय का तत्त्व उन्होंने उपेक्षित कर दिया। सिंह सेनापति के साथ बुद्ध का संवाद उनकी समन्वयशीलता को सुस्पष्ट करता है जहाँ बुद्ध कहते हैं—“मैं कुशल संस्कार की अक्रिया का उपदेश देता हूँ, अतः मैं अक्रियावादी हूँ और अकुशल संस्कार की क्रिया पसन्द है, अतः मैं उसका उपदेश देता हूँ, इसलिये मैं क्रियावादी भी हूँ, (विनय पिटक, महावग्ग, VI. ३१)। इस समन्वय प्रकृति का प्रदर्शन भगवान् बुद्ध ने अन्यत्र दार्शनिक क्षेत्र में सम्भवतः नहीं किया और चतुःसत्य के उपदेश में अपना प्रण-प्रकाशन किया। यही कारण था कि उन्होंने शाश्वत-वाद, उच्छेदवाद आदि सम्बन्धित सभी प्रश्नों का उत्तर निषेधात्मक दिया।

भगवान् महावीर वेद-उपनिषद् एवं बुद्ध की इस समन्वय-साधना को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं—“कर्म का कर्त्ता आत्मा स्वयं है, 'पर' नहीं है और न स्व-परोभय है।” (अंगुत्तरनिकाय १९३, १७९) जिसने कर्म किया वही उसका भोक्ता है ऐसा मानने में ऐकान्तिक शाश्वतवाद की आपत्ति भी नहीं है और जिस अवस्था में कर्म का फल भोगा जाता है तथा भोक्तृत्व अवस्था से कर्म कर्त्तृत्व अवस्था का भेद होने पर ऐकान्तिक उच्छेदवाद की आपत्ति इसलिए नहीं आती कि भेद होते हुए भी जीव द्रव्य दोनों अवस्था में एक ही तरह मौजूद रहता है। विभज्यवाद का आधार है विभाग करके उत्तर देना। इसके अनुसार विरोधी बातों को स्वीकार एक सामान्य में करके उसी एक को विभक्त करके दोनों विभागों में दो विरोधी धर्मों को संगत बताना है। भगवान् महावीर ने विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक करने की दृष्टि से विरोधी धर्मों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से धटाया है। इसी कारण महावीर का विभज्यवाद अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। इस

दृष्टि से हम अनेकांतवाद को विभज्यवाद का ही विकसित रूप मान सकते हैं। भगवान् बुद्ध दो विरोधी वादों को देखकर उससे बचने के लिए अपना तीसरा मार्ग—“मध्यम मार्ग” मानते हैं। भगवान् बुद्ध विरोधी-तत्त्वों को अस्वीकार करते हैं किन्तु महावीर उन दोनों विरोधी तत्त्वों का समन्वय करके अपने नये मार्ग अनेकांतवाद की प्रतिष्ठा करते हैं।

भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत प्रश्नों (मज्झिमनिकाय, सुत्त-६) को तीन प्रश्नों में समाहित कर उन पर विचार किया है—(१) लोक की नित्यता-अनित्यता अर्थात् सान्ता-निरन्तता (२) जीव-शरीर का भेदाभेद (३) जीव की नित्यता-अनित्यता अर्थात् तथागत की मरणोत्तर स्थिति।

प्रथम प्रश्न का उल्लेख हम भगवती सूत्र (२/१; ९/६) एवं सूत्रकृतांग (१/४/६) आदि में, द्वितीय प्रश्न का भगवती सूत्र (१३/४/४९५ १७/२; आचारांग १७०; संयुक्त निकाय १२/३५) में एवं तृतीय प्रश्न का आचारांग (१/५/६; भगवती १२/५/४५२; ७/२/२५३) आदि में पाते हैं।

लोक की नित्यता-अनित्यता के विषय में बुद्ध ने उन्हें अव्याकृत बताया क्योंकि वे किसी वाद में पड़ जाने के भय से निषेधात्मक उत्तर देते थे लेकिन महावीर ने स्पष्ट बताया कि लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त क्योंकि संख्या में एक है किन्तु पर्यायों की अपेक्षा से अनन्त है। (भगवती सूत्र २/१ ९०; ९.३८.७)। उसी प्रकार जीव-शरीर के भेदाभेद प्रश्न को हल किया गया है (भगवती सूत्र १३/७/४९५; १४.४.५१४; १०/२ आदि)। चार्वाक शरीर को आत्मा मानता था और उपनिषद् आत्मा को शरीर से भिन्न। बुद्ध ने दोनों मतों को दोषपूर्ण मानते हुए नैरात्मवाद का सिद्धांत दिया और दोनों का समन्वय नहीं कर सके। लेकिन भगवान् महावीर ने जीव-शरीर के विषय में भेदाभेद रूप से समन्वय किया। यदि आत्मा शरीर से बिल्कुल अभिन्न माना जायगा तो शरीर भस्म हो जाने पर आत्मा का भी नाश माना जायगा। फिर उस स्थिति में परलोक सम्भव नहीं होगा और कृत प्रणाम दोष होगा। यदि आत्मा को शरीर से भिन्न माना जाएगा तो फिर कायकृत कर्मों का फल भी नहीं मिलना चाहिये। अतः अकृतागम दोष की उत्पत्ति होती है।

हमने देखा कि इन प्रश्नों को जहाँ बुद्ध अव्याकृत बता देते हैं, वहीं महावीर अनेकांतात्मक दृष्टि से इनका समाधान देते हैं। (मज्झिम निकाय सब्ब सुत्त २, भगवती १२/५/४५२; ७/२/२७३; ७/३/२७९; ९/६/३८७; १/४/४२)। यह ठीक है कि बुद्ध एवं महावीर दोनों एकांशवादी नहीं बल्कि विभज्यवादी थे (मज्झिम निकाय, सूत्र ९९)। दोनों के विभज्यवाद की तुलना करके गणधर गौतम ने कहा कि जहाँ भगवान् बुद्ध ने निषेधात्मक या यो कहें कि अव्याकृत-दृष्टि अपनायी, वहाँ भगवान् महावीर

ने समन्वय की विराट चेष्टा में अनेकांत की जयपताका फहरायी। कहा जाता है कि केवलज्ञान होने के पूर्व भगवान महावीर को जिन दस महास्वप्नों के दर्शन हुए, उनमें तीसरा स्वप्न चित्र-विचित्र था। उसका प्रतीकात्मक अर्थ है कि भगवान का उपदेश भी चित्र-विचित्र यानी अनैकांतिक है।

संक्षेप में यह अनेकांत दृष्टि जैन विचार के मूल में है और यही इसका सर्वोदय तीर्थ भी है। अनेकांत दृष्टि के मूल में दो तत्त्व हैं—१. पूर्णता और २. यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप में प्रतीत होता है, वही सत्य कहलाता है। परन्तु पूर्ण रूप से त्रिकालबाधित यथार्थ का दर्शन दुर्लभ है और यदि हो भी जाय, तो उसका प्रकाशन दुर्लभ है। देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि अनिवार्य भेद के कारण भेद का दिखायी देना अनिवार्य है। फिर साधारण मनुष्य की बात ही क्या? साधारण मनुष्यों में यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। अब एक स्थिति आती है—

“यदि अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी दूसरे का दर्शन सत्य है; अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपना दर्शन सत्य है।” तो दोनों को न्याय कैसे मिल सकता है ?

मेरी समझ में इसी समस्या के समाधान के लिये अनेकांत दृष्टि का आविष्करण किया गया जिसकी मुख्य बातें निम्न प्रकार की हैं—

- (क) राग और द्वेषजन्य संस्कारों से ऊपर उठकर तेजस्वी मध्यस्थ भाव रखना।
- (ख) जब तक इस प्रकार के तटस्थ एवं मध्यस्थ भाव का पूर्ण विकास न हो तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।
- (ग) विरोधी पक्ष के प्रति आदर रखकर उसके भी सत्यांश को ग्रहण करना।
- (घ) अपने या विरोधी के पक्ष में जहां जो ठीक जंचे उनका समन्वय करना।

इस प्रकार अनेकांत दृष्टि के द्वारा हम एक नयी “समाज-मीमांसा” और नये “समाज-तर्क” के आविष्कार की ओर बढ़ सकते हैं और उसके द्वारा समाज में समन्वय लाया जा सकता है। यह सप्तभंगी और नय के उपकरणों से होना चाहिए। यह ठीक है कि चूंकि दार्शनिक और आध्यात्मिक साधना में ही अनेकांत दृष्टि आयी इसलिये उन्हीं क्षेत्रों में इन उपकरणों के उपयोग हुए किन्तु अब समाज-साधना में इनके प्रयोग को आगे बढ़ाना चाहिये। यही अनेकांत का फलितवाद या व्यावहारिक उपयोग माना जायेगा। यही है जीवित अनेकांत। अनेकांत दृष्टि केवल तत्त्व ज्ञान तक ही

सीमित नहीं रहनी चाहिये। वस्तुतः अनेकांत एक जीवन-दर्शन है। यह सब दिशाओं से, सब ओर से खुला एक मानस चक्षु है। ज्ञान, विचार और आचरण किसी भी क्षेत्र में यह न केवल संकीर्ण दृष्टि का निषेध करता है बल्कि अधिक से अधिक दृष्टिकोणों को सहानुभूति के साथ आत्मसात् करने का प्रयास है। इसी तरह विश्व के सम्बन्ध में सामान्यगामिनी और विशेष-गामिनी दो भिन्न दृष्टियों में समन्वय हो सकता है। यों दोनों वाद अन्त में शून्यता तथा स्वानुभवगम्यता तक पहुंचे। यों दोनों के लक्ष्य भिन्न होने के कारण वे दोनों परस्पर टकराते हुए दीखते हैं। उसी प्रकार भेदवाद-अभेद-वाद के अनेकांत दृष्टिकोण से ही सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद का जन्म हुआ। इसी प्रकार सद्वाद-असद्वाद, निर्वचनीय-अनिर्वचनीयवाद, हेतु-अहेतुवाद आदि के द्वंद्वों का भी अनेकांत दृष्टि से समन्वय किया जा सकता है। यदि हम पूछते कि “इन सब में क्या कोई तथ्यांश नहीं है या है,” या “किसी-किसी में तथ्यांश है या सभी पूर्ण सत्य हैं” और अन्तर्मुख होकर विचार करें तो विरोधों का भी समाधान हो जायगा। यही दृष्टि अनेकांत दृष्टि है। जिसमें जिस हद तक सत्यांश है, उसे स्वीकार कर सभी सत्यांशों को विचार-सूत्र में पिरोकर एक अविरোধी माला बनायी जा सकती है। अतः अनेकांत प्रकाश में हमें यह समझना होगा कि प्रतीति चाहे अभेदगामिनी हो या भेद-गामिनी, निर्वचनीय या अनिर्वचनीय, हेतुवादी या अहेतुवादी सभी वास्तविक हैं। प्रत्येक प्रतीति की वास्तविकता उसके अपने विषय तक तो है ही पर जब वह विरुद्ध दिखाई देने वाली दूसरी प्रतीति के विषय की अयथार्थता दिखाने लगती है तो वह खूद भी अवास्तविक बन जाती है इसलिये वे दोनों स्थानों पर रह कर अविरোধी भाव से प्रकाशित कर सकें और वे सब मिलकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित करने के कारण प्रमाण मानी जा सकें यही अनेकांत दृष्टि है। इस समन्वय विचार के बल पर यह समझाया है कि सद्-द्वैत और सद्-अद्वैत के बीच कोई विरोध नहीं क्योंकि वस्तु का पूर्ण रूप ही अभेद और भेद या सामान्य और विशेषात्मक ही है। एक मात्र सामान्य के समय सत् का अर्थ अद्वैत है, किन्तु जब विश्व को गुणधर्म कृत भेदों में विभाजित किया जाता है तो वह अनेक है, जिसे हम सद्द्वैत कह सकते हैं। यानी काल, देश तथा देश-कालातीत सामान्य विशेष के उपर्युक्त अद्वैत-द्वैत से आगे बढ़कर कालिक सामान्य विशेष के सूत्रक नित्यत्ववाद और क्षणिकत्ववाद भी हैं। भले दोनों में बाहर से विरोध मालूम पड़ते हैं, लेकिन हैं नहीं। जब हम किसी तत्त्व को तीनों कालों में अखंड रूप अनादि-अनन्त रूप से देखेंगे तो अखंड प्रवाह से आदि-अन्त रहित होने से नित्य होगा, परन्तु इसे जब काल पर्यन्त स्थायी ऐसा परिमित रूप ही नजर आता है, तो सादि और सान्त है, और विवक्षित काल जब

बहुत छोटा होता है तो वह क्षण के बराबर होने से क्षणिक कहलाता है। कोई वृक्ष का जीवन-व्यापार मूल से लेकर फल तक में कालक्रम से होने वाली बीज, अंकुर, स्कंध, शाखा-प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प से लेकर फल आदि विविध अवस्थाओं में होकर ही प्रवाहित और पूर्ण होता है। इसी वृक्ष को हम अखंड रूप से या खंड रूप से समझ सकते हैं और दोनों ही सत्य एवं यथार्थ हैं। अतः एकमात्र नित्यत्व या अनित्यत्व को वास्तविक कह कर दूसरे विरोधी अंश को अवास्तविक कहना ही नित्य-अनित्यवादों की टक्कर का बीज है, जिसे अनेकांत दृष्टि हटाती है। इसी तरह अनेकांत दृष्टि अनिर्वचनीयत्व और निर्वचनीयत्ववाद की पारस्परिक टक्कर को भी मिटाती है। इसी तरह भावरूपता और अभावरूपता, हेतुवाद-अहेतुवाद, सत्कार्यवाद और असत्-कार्यवाद, परमाणुवाद-पुंजवाद आदि बाह्यरूप से विरोधी विचारों के विरोध का भी परिहार किया जा सकता है।

इस प्रकार निर्दोष समन्वय मध्यस्थभाव से होता है और इसके लिये ही अनेकांतवाद के आस-पास नयवाद और भंगवाद आप ही आप फलित हो जाते हैं। केवल ज्ञान को उपयोगी मानकर उसके आश्रय से प्रवृत्त होने वाली विचार-धारा नामक ज्ञान नय है और केवल क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त होने वाली विचारधारा क्रिया-नय है। नय अनेक और अपरिमित हैं, अतः विश्व का पूर्ण दर्शन-अनेकांत भी निस्सीम है। इसी तरह भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं; दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं, उन्हीं के आधार पर भंगवाद की सृष्टि खड़ी होती है। दो दीख पड़ने वाले विरोधी विचारधाराओं का इससे समन्वय किया जाता है। सप्त भंगी का आधार नयवाद किन्तु ध्येय समन्वय अर्थात् अनेकांत कोटि का व्यापक दर्शन कराना है। किन्तु अखण्ड और सजीव सर्वांश सत्य को अपनाते की भावना को हम इनकार नहीं कर सकते हैं।

अनेकांतवाद भले ही जैनों के नाम से चलता है लेकिन यह भावना अनेक जगहों में आदर एवं श्रद्धा ही नहीं बल्कि बुद्धि और तर्क से भी अपनाई गई है। ऋग्वेद में “एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति” (ऋग्वेद, १-१६४-४६ या उपनिषद् में “तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके” (ईश-५) आदि कहकर “विरुद्ध धर्माश्रयत्व” को स्वीकार किया ही गया है। सुकरात में भी हम ज्ञान-अज्ञान के सापेक्षवाद का अनूठा दर्शन पाते हैं वे जब कहते हैं—“मैं अज्ञानी हूँ क्योंकि मैं यह जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे ज्ञानी नहीं हैं क्योंकि वे नहीं जानते हैं कि वे अज्ञ हैं।” सुकरात के शिष्य अफ़लातून ने कहा कि भौतिक पदार्थ सम्पूर्ण सत् और असत् के बीच के अर्द्ध सत् जगत में रहते हैं। जीवन में अनुभव और तर्क की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ होती हैं। भिन्नता तर्क में है, जीवन में नहीं। क्रोसे ने कहा है कि दो भिन्न कल्पनायें एक दूसरे के

साथ भिन्न होने पर भी मिल सकती हैं। चिन्तन एवं कर्म भिन्न हैं, किन्तु विरोधी नहीं। शीत-उष्ण, पतला-मोटा, ऊंचा-नीचा—आदि द्वंद्वों में विभाजन रेखा नहीं है जहाँ पर एक समाप्त होकर दूसरा आरम्भ होता हो। एक ही जल भिन्न स्थिति में उष्ण या शीत कहा जा सकता है। एक रोटी को दूसरे की अपेक्षा मोटी या पतली दोनों ही कही जा सकती है।

यही कारण है कि “युक्त्यनुशासन” में सर्वोदय-तीर्थ को अनेकात्मक बताते हुए सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक, आदि अशेष धर्मों को उसमें समाहित बताया गया है। इसमें एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है। उसमें असंगति अथवा विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है। जो विचार पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता, वह सर्वान्त शून्य माना जाता है जिसमें किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः या अनेकांत या सर्वान्तवान शासन ही सभी दुःखों का अन्त करने वाला है और यही आत्मा के पूर्ण अभ्युदय का साधक है। अनेकांत सभी निरपेक्ष नयों या दुर्नयों का अन्त करने वाला है। जो निरपेक्ष है, वही मिथ्या-दर्शन है, वही एकांतवाद रूप है।

सर्वोदय का मूलाधार समानता है। वस्तुस्वातंत्र्य और समानता, ये दो प्रबल दीप-स्तम्भ हैं, वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों और धर्मों से युक्त है। अनेकांत शब्द ‘अनेक’ और ‘अन्त’ दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है—एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकता है और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच अनेक अर्थ सम्भव हैं। ‘अन्त’ का अर्थ है धर्म या गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं। वस्तुतः अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकांत है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा—परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकांत है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी कहा जाता है तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकांतवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अतः अनेकान्त में भी अनेकान्त को स्वीकार करना होगा। जैन दर्शन न सर्वथा एकान्तवाद को मानता है न सर्वथा अनेकांतवाद को। यही अनेकान्त में अनेकांत है—

अनेकान्तोप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकांतः प्रमाणाच्चे तदेकान्तोऽपितान्नयात् ॥

स्वर्यभूस्तोत्र ॥१०३॥

यानी सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा से वस्तु अनेकांत स्वरूप है एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा से वस्तु एकांत रूप है। यानी वह कथंचित् एकान्त-

वादी और कथंचित् अनेकांतवादी है। एकान्त और अनेकांत भी क्रमशः सम्यक् एवं मिथ्या दो प्रकार के होते हैं। निरपेक्ष नय मिथ्या एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक् एकान्त है, तथा सापेक्ष नयों का समूह (अर्थात् श्रुत प्रमाण) सम्यक् अनेकांत और निरपेक्ष नयों का समूह मिथ्या अनेकांत (अर्थात् प्रमाणाभास) है। कहा भी है—

“जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविशेषं ।

सुयणाणेण णएहि य, णिरवेक्खं दीसदे णैव ॥”

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-२३१

राजवातिक (१/६) में अकलंक कहते हैं कि “यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाय तो सम्यक् एकान्त के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जायगा। अतः यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जाये तो फिर अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्व लोप का प्रसंग प्राप्त होगा।” सम्यक् एकांत नय है और सम्यक् अनेकान्त प्रमाण। अनेकांतवाद सर्व-नयात्मक है। जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक माला में पिरो देने से एक सुन्दर हार बन जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वाद रूपी सूत में पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुत प्रमाण कहे जाते हैं—(स्याद्वाद मंजरी, श्लोक-३०)।

परमागम के बीजस्वरूप अनेकांत में सम्पूर्ण नयों (सम्यक् एकांतों) का विकास है। उसमें एकांतों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है—

‘परमागस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्,

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

—पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय (अमृतचन्द्र)

संक्षेप में, जैसे विभिन्न अन्धों को हाथी विभिन्न अपेक्षा से विभिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं, किन्तु अंश रूप से सत्य है, पूर्ण रूप से नहीं। अतः हम परस्पर विभिन्न विरोधी धर्मों का समन्वय विठा सकते हैं। हां, यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्म-युगलों का पिण्ड है तथापि वस्तु में सम्भाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये हैं, असम्भाव्य नहीं। अन्यथा आत्मा में नित्यत्व-अनित्यत्वादि के समान चेतन-अचेतनत्व धर्मों की सम्भावना का प्रसंग आयेगा। (धवला १-१-१-११)

यह दुर्भाग्य है कि अनेकान्त और स्याद्वाद के निर्दोष एवं समन्वयकारी तत्त्व ज्ञान को भारतीय मनीषा के कुछ श्रेष्ठतम व्यक्तियों ने गलत समझ लिया। ब्रह्मसूत्र में “नैकस्मिन् संभवात्” (२/२/३३) का भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं कि “एक वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का निवास असम्भव है।” शंकराचार्य शायद यह भूल जाते हैं कि अपेक्षा भेद

से यदि उनका परमार्थ और व्यवहार अलग-अलग सत्य हो सकता है तो उसी प्रकार अपेक्षाभेद से एक ही नर सिंह एक भाग से नर होकर भी द्वितीय भाग की अपेक्षा से सिंह है। एक ही धूपदान अग्नि से संयुक्त होकर भी पकड़ने वाले भाग में ठण्डी एवं अग्नि-भाग में उष्ण है। यही कारण है कि म. म. फणिभूषण अधिकारी एवं डॉ. गंगानाथ भा. जैसे विद्वानों को कहना पड़ा है कि "इस सिद्धांत में बहुत कुछ ऐसा है जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा यदि वे जैन धर्म के मूल ग्रंथों से देखने का कष्ट उठाते तो जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।" इसे म. म. अधिकारी अन्याय एवं अक्षम्य मानते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् का यह समझना कि अनेकांत-स्याद्वाद से हमें केवल आपेक्षिक अर्द्ध सत्य का ही ज्ञान हो सकता है, हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते। दूसरे शब्दों में यह हमें अर्द्ध सत्यों के पास लाकर पटक देता है, और इन्हीं अर्द्ध-सत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित अनिश्चित अर्द्ध-सत्यों को मिलाकर एक साथ रख देने से वह पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता।"—कुछ पूर्वाग्रह से भरा है। अनेकांत अर्द्ध-सत्य को हरगिज पूर्ण सत्य मानने की प्रेरणा नहीं देता बल्कि अर्द्ध-सत्यों का समन्वय करने का प्रयास करता है।

प्रमाणवार्तिक (३/१=०-४) में धर्मकीर्ति के अनुसार तत्त्व एकान्त रूप ही हो सकता है, क्योंकि यदि सभी तत्त्वों को उभय रूप यानी स्व-पर रूप माना जाय तो पदार्थों का वैशिष्ट्य समाप्त हो जायगा। वस्तुतः धर्मकीर्ति भूल जाते हैं कि दो द्रव्यों में एक जातीयता होने पर स्वरूप की भिन्नता और विशेषता होती ही है। द्रव्य और पर्याय में भी भेद है ही। धर्मकीर्ति के शिष्य प्रज्ञाकर गुप्त प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. १४२) एवं हेतु बिन्दु के टीकाकार अर्चट (टीका पृ. १४६) भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामवाद में दूषण पाते हैं और यह मानते हैं कि जब व्यय होगा तो सत्त्व कैसे होगा? बौद्धाचार्य संभवतः भूल जाते हैं कि प्रत्येक स्वलक्षण परस्पर भिन्न है, एक दूसरे रूप नहीं हैं। अतः रूपस्वलक्षणत्वेन अस्ति है और रसादि स्वलक्षणत्वेन नास्ति है, अन्यथा रूप और रस मिलकर एक हो जायेंगे। शातरक्षित (तत्त्व संग्रह) ने "स्याद्वाद-परीक्षा" नामक एक स्वतन्त्र ही प्रकरण में अनेकांत के उभयात्मकतावाद पर प्रहार किया; धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि ने यह महसूस किया कि "जैनों का यह दर्शन नहीं है कि सर्व सर्वात्मक है या सर्वा सर्वात्मक नहीं है।" अतः प्रकृत दूषण नहीं है।

विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि (२/२) में भी अनेकांत पर "दो धर्म एक धर्म में असिद्ध है" का दूषण लगाना व्यर्थ है क्योंकि प्रतीति के बल से ही उभयात्मकता सिद्ध होती है। तत्त्वोपलवसिंह के लेखक जयराशि भट्ट भले ही अनेकांत का खंडन करते हैं लेकिन जब वे कहते हैं कि वस्तु न नित्य है, न

अनित्य, न उभय और न अवाच्य, तो प्रकारान्तर से एकान्तवाद का खंडन एवं अनेकांतवाद का समर्थन करते हैं। प्रशस्तपाद भाष्य के टीकाकार श्री व्योमशिव भी इसमें “विरोध धर्म दोष” एवं अनेकांत में भी अनेकांत मानने में अनवस्था दोष देखते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कर भट्ट भी विरोध और अनवधारण दोष देखते हैं। यह आश्चर्य है कि भास्कर स्वयं अपने सिद्धांतों में जगह-जगह पर भेदाभेदात्मक तत्त्व का समर्थन करते हैं किन्तु अनेकांतवाद का खंडन करते हैं। विज्ञानभिक्षु (ब्रह्मसूत्र के विज्ञानामृत भाष्य, २/२/३३) में आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि “प्रकार भेद के बिना दो विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते।” किन्तु अनेकांत-व्यवस्था में अपेक्षाभेद को स्वीकार किया ही गया है तो प्रकार भेद को अस्वीकार कहां करता है? श्रीकंठ (श्री कंठ भाष्य ब्रह्मसूत्र, २/२/३३) भले ही पुरानी विरोध वाली दलील दुहराने हैं लेकिन उनके शिष्य अप्पय दीक्षित तो देशकाल और स्वरूप आदि अपेक्षाभेद से अनेक धर्म स्वीकार करना अच्छा मानते हैं। अफसोस यही है कि वे कहते हैं —“स्याद्वादी बिना अपेक्षा के ही सब धर्म मानते हैं।” यह निनान्त मिथ्या आरोप है। श्री रामानुजाचार्य भी उसी प्रकार अपेक्षा भेद के आविष्कारक जैन आचार्यों को अपेक्षा भेद, उपाधिभेद या प्रकार भेद का उपदेश देते हैं। (वेदांतदीप, पृ. १११-१२)। वल्लभाचार्य भी विरोध दूषण उपस्थित करते हैं लेकिन मानते हैं कि “विरुद्ध धर्म ब्रह्म में ही प्रमाणित हो सकता है।” (अणु भाष्य २/२/२/३३) निम्बार्काचार्य स्वयं भेदाभेदवादो होकर अनेकांत में सत्त्व और असत्त्व धर्मों को विरोध दोष देते हैं। (निम्बार्क भाष्य, ब्रह्मसूत्र, २/२/३३)।

वास्तव में अनेक दृष्टियों से वस्तु स्वरूप का विचार करना न केवल जैन की अपितु भारतीय दर्शन की परम्परा रही है। ऋग्वेद के “एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति” (ऋग्वेद २/३/२३, ४६) के पीछे यही अभिप्राय है। बुद्ध विभज्यवादी थे अतः प्रश्नों का उत्तर अनेकांशिक रूप से देते थे—“अस्सतो लोकोत्तिखो पोड्ढपाद मया अनेकंसिको.....” दीर्घनिकाय, पोड्ढपाद सुत्त)। ब्रह्मसूत्र में आचार्य आश्वमरथ्य और औडुलोमि (१/४/२०-२१) का भेदाभेद का मत आता है। स्वयं शंकराचार्य ने अपने भाष्य (२/३/६) में भेदाभेदवादी भर्तृप्रपञ्च के मत का खंडन किया है। सांख्य कारण रूप से प्रकृति को एक परिणाम रूप से अनेक मानते ही हैं। योगशास्त्र भी इसी तरह अनेकांत-रूपात्मक परिणामवाद को मानता है। (योग भाष्य/व्यास भाष्य)। १/४/३३। मीमांसक कुमारिल भी आत्मवाद में आत्मा का व्यावृत्ति और अनुगम उभय रूप से समर्थन करते हैं। (मीमांसा श्लोक वार्तिक, २८)। आचार्य हेमचंद्र ने ठीक ही लिखा है कि ज्ञान के अनेकाकार मानने वाले समझदार बौद्धों और अनेक आकार वाले एक चित्र रूप को मानने वाले नैयायिक और वैशेषिक को

तो अनेकांत का हरगिज प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिये । फिर तीन गुणों वाली प्रकृति को मानने वाले सांख्य को तो और भी विरोध नहीं करना चाहिये । (वीतराग, स्तोत्र, ८/८-१०) ।

जैनाचार्य अकलंक देव ने स्याद्वाद-अनेकांतवाद पर संशय, विरोध, त्रैयधिकरण, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दूषणों का परिहार (अष्टशती, अष्टसहस्री एवं प्रमाण संग्रह) में किया है । विरोध दोष ही मुख्य है जिसे हम देख चुके हैं । संशय दोष लगाना गलत है जब दोनों धर्मों की अपने दृष्टिकोणों से सर्वथा निश्चित प्रतीति होती है । संकर दोष तो तब होता जब जिस दृष्टिकोण से स्थिति मानी जाती है, उसी से उत्पाद और व्यय भी माने जाते । लेकिन दोनों की अपेक्षाएँ जुदी-जुदी हैं । व्यतिकर दोष तो परस्पर विषयागमन से होता है । किन्तु जब अपेक्षा में निश्चित है, धर्मों में भेद है तो परस्पर विषयागमन का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

उसी तरह त्रैयधिकरण दोष भी नहीं लगाया जा सकता क्योंकि सभी धर्म एक ही आधार में प्रतीत होते हैं । एक आधार में होने से वे एक नहीं हो सकते जैसे एक ही आकाश प्रदेश रूप आधार में जीव, पुद्गल आदि षट् द्रव्यों की सत्ता पायी जाती है । फिर अनवस्था दोष का भी प्रसंग नहीं आ सकता क्योंकि धर्म में अन्य धर्म नहीं माने जाते बल्कि वस्तु त्रयात्मक मानी जाती है । इसी तरह धर्मों को एक रूप मानने से एकातित्व का प्रसंग नहीं उठना चाहिए क्योंकि वस्तु अनेकांत रूप है और सम्यक् एकांत और अनेकांत का कोई विरोध नहीं । जिस समय उन्माद को उत्पाद रूप से अस्तित्व और व्यय रूप से नास्तित्व कहेंगे उस समय उत्पाद धर्म न रहकर धर्मों बन जायगा । धर्म-धर्मिभाव सापेक्ष हैं । फिर जब वस्तु लोक व्यवहार तथा प्रमाण से निर्बाध प्रतीति का विषय हो रही है तो उसे अनवधारणात्मक अव्यवस्थित या अप्रतीत कहना भी गलत है । और जब प्रतीत है तब अभाव तो हो ही नहीं सकता ।

मुझे भी लगता है कि आज का युग धर्म समन्वय है । समन्वय ही सर्वोदय का मूलधार है । किन्तु जब तक हम वस्तु के स्वरूप पर विचार करने के लिए अनेकांत दृष्टि नहीं रख पायेंगे, हम समन्वय की दिशा में आगे भी नहीं बढ़ पायेंगे । भारतीय संस्कृति ही समन्वय की संस्कृति है । यही विश्व को भारतीय संस्कृति की देन है । जाति, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय आदि की विविधताओं के बीच भारतीय मनीषियों ने समन्वय किया है । समन्वय का एक ही विकल्प है—संघर्ष, और संघर्ष का परिणाम सत्यानाश है । अतः जिसे स्वामी समन्तभद्र ने सर्वोदय-तीर्थ कहा है, उसे हम समन्वय तीर्थ भी कह सकते हैं ।

जैनदर्शन में अद्वैतवादी प्रवृत्तियाँ

अविद्या-बंध हेतु

अध्यात्म भारतीय चिन्तनधारा का मूल तत्त्व रहा है। सत्य का सन्धान एवं अध्यात्म का आलोक प्राप्त करना ही यहाँ की विशेषता रही है। इसीलिए तो वैदिक प्रार्थना है—असतोमाद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय। जन्म-मरण एवं पुनर्जन्म की प्रक्रिया ही भव-बंधन है। अतः इस प्रक्रिया की परिसमाप्ति ही परिनिर्वाण या मोक्ष है।^१ सत्य-दर्शन ही मोक्ष-दर्शन है। अतः अज्ञान ही बंधन का कारण है। यही हमारा अवतरण या अपकर्ष है। इसीलिए मोक्ष के लिए ज्ञान अनिवार्य है।

अद्वैत वेदान्त के बीजांकुर उपनिषदों में भी विद्यमान हैं, जहाँ अविद्या को विभ्रम एवं संसारासक्ति कहा गया है। माया ब्रह्मांश-शक्ति है जिससे नानात्व का आविर्भाव होता है। यदि माया संसार का कारण है तो अविद्या ही हमें उससे आसक्त रखती है। गौड़पाद ने भी माया को ब्रह्मांड-विभ्रम तथा अविद्या को तद्जनित जीवगत-भ्रम माना है। शंकराचार्य भी माया को समष्टिगत तथा अविद्या को व्यष्टिगत अज्ञान की व्याख्या के लिए स्वीकार करते हैं। चाहे जो भी हो, मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है जो मात्र ज्ञान से ही अर्जित हो सकता है—यथा, ज्ञानात् एव तु कैवल्यम्।^२ ऋते ज्ञानान्मुक्तिः।^३ बादरायण का भी यही सुनिश्चित मत है—“पुरुषार्थोऽज्ञानद्विदिति बादरायणः।”^४ उपनिषद् ने भी इसी का समर्थन किया है—“तरतिशोकमात्मवित्।”^५ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपादोः।^६ “ब्रह्मविदा प्राप्ति परमरतै।”^७ स्वयं शंकर के शिष्य पद्मपाद ने भी मोक्ष को मिथ्याज्ञान का अभाव कहा है। यह अन्तर्दृष्टि तथा जीवन एवं जगत् के प्रति यह अभिनव दृष्टिकोण मोक्ष की

१. भ०मी० २/५१; कठ० १/३/७-८।

२. Malkani, G.R., Vedantic Epistimology p-3.

३. वेदवचन।

४. ब्र०सू०शं०भा० ३/४/१.

५. छान्दो० ३/४-१।

६. मुंड ३/२, ९।

७. तैत्ति० २/९; छान्दो० ६/१४, ८/७; बृह० ४/५/६ से १५; श्वेत० ५/१३।

साधना नहीं, स्वयं मोक्ष ही है।^१ दुःख का कारण केवल विभ्रम एवं मिथ्या-ज्ञान ही है।^२

जैनदर्शन में भी अविद्या को मिथ्यात्व कहा गया है। तमिस्रा अंत होने पर ही ज्ञानोदय होता है। अतः ज्ञान-मार्ग ही निर्वाण-मार्ग है। जैनदर्शन ने भी त्रिरत्न में सम्यक् ज्ञान का समावेश किया ही है।^३ जीव या आत्मा स्वभावतः पूर्ण है, जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य एवं अनन्तसुख विद्यमान है। यह स्वयं भास्वर है किन्तु कर्म पुद्गल रूपी मेघ एवं कुहांसे भी तो लगे हुए हैं। जिस समय मेघ हट जाएंगे, सूर्य का आलोक फैल जायेगा। वस्तुतः आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अनभिज्ञता ही हमें सांसारिक बंधनों में जकड़ देती है। अतः सम्यक् ज्ञान और तत्त्व-ज्ञान सबों के लिए परमावश्यक है। यहां जैनमत एवं वेदान्त दृष्टि में मूलतः कोई पार्थक्य नहीं है।

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष ही मानव जीवन का चरम-लक्ष्य है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। किन्तु मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में दो विभिन्न विचार हैं—भावात्मक एवं अभावात्मक।^४ नैयायिक^५, सांख्य^६, योग^७ और पूर्व मीमांसा^८ के अनुसार यद्यपि मुक्तावस्था आत्यन्तिक दुःखाभाव है, फिर भी इसे भावात्मक कहा जा सकता है। (यह

१. राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी—भाग-२ पृ० ६३७।
२. शं०भा० २/३/४६; छान्दो० ८/४ और ५; न्या०भा० ४/२/१ प्र० ५१ आ०पृ० ५३८, देखें सां०का० ४४; मा०पृ० ४४, सां०कौ० ४४; उ०सू० २/३, त०सं० ८.१.३ उ०ध्य०सू० २१/१९, २३/४३, २८/२०, स्था०सू० २/२।
३. त०सू० १/१; त०अ०सू० १०/१; द्र०सं० ४०; त०सू०भा० पृ० ७२; चन्द्रप्रभचरित् पृ० ५३८; धर्मशर्माभ्युदयम् २१/१६१; सं०सा० ९/२९३; सं०का०सा० १/४७; प्र०सा० ११/८१ प्र०सा० की भूमिका (संसार और मुक्ति)।
४. तुलना मा०वृ० पृ० १९७ (प्रपंच प्रवृत्ति) भावात्मक व्याख्यार्थ देखें—वि०मं० (बुद्धघोष) ८/२४७; १६/६४; १६/३७; १६/७१ ९०; ३७३, ८० म०नि० ५७।
५. न्या०या० १।१२१, न्या०मं० पृ० ५०८ (भावात्मक व्याख्यार्थ देखें—ना०सं० २००।
६. सां०का० ६७; सां०त०कौ० ६७।
७. यो०भा० ४।३०।
८. श्लो०वा० १०७; त०लो० १५६।

विचार सर्वसम्मत नहीं हैं। किन्तु जैन^१ एवं वेदान्त के अनुसार मोक्षावस्था द्विविध वरदान है। प्रथमतः सारे क्लेशों का क्षय हो जाता है, तत्पश्चात् सक्रिय आनन्द या सुख की प्राप्ति होती है। कारण, आत्मा में अनन्त ज्ञान दर्शनादि है। अतः यह स्वाभाविक है। किन्तु यहां एक कठिनाई है। यदि मोक्ष अध्यात्म साधना का फल है तो यह नित्य नहीं हो सकता। और यदि इस साधना से प्राप्त नहीं होता तो इसकी प्राप्ति अन्यथा संभव नहीं। वेदान्त इस समस्या का समाधान देता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ अभेद को प्राप्त कर लेता है। यह किसी अपूर्ण की प्राप्ति नहीं बल्कि 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' ही है।

इसीलिए उपनिषदों ने "तत्त्वभवसि" नहीं प्रत्युत "तत्त्वमसि"^२ का ही उपदेश किया है। चूंकि ब्रह्म सत् एवं चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप भी है अतः जीव भी आनन्दरूप^३ हो जाता है, जब वह ज्ञान प्राप्ति कर लेता है। ज्ञान एवं सुख एक ही है।^४ अतः मुक्ति दुःख निरोध के अतिरिक्त विशुद्ध आनन्द भी है। मंडन के अनुसार भी केवल दुःखाभाव ही आनन्द नहीं है क्योंकि दुःख और सुख की अनुभूति साथ-साथ भी संभव है। जैसे शीतल जलाशय में स्थित लेकिन अपने सिर को बाहर रखने वाला व्यक्ति अग्नि-स्वरूप भगवान भास्कर की तप्त किरणों की दाहकता और जलाशय की शीतलता एक साथ अनुभव कर सकता है।^५

आत्मा का स्वरूप

बंधन एवं मोक्ष का विचार तो आत्म-विचार से ही प्रतिफलित होता है। क्योंकि आत्म-बंधन और मोक्ष या सत्यासत्य सबसे पहले से ही वर्तमान है। उसका अस्तित्व स्वयंसिद्ध है और यह संशय के परे भी है क्योंकि यह संशयात्मा के संशय में भी अपना अस्तित्व दिखलाता है।^६ अपरोक्षानुभूति आधारित इसका ज्ञान प्रमाण निरपेक्ष मानना चाहिए। यह आधारभूत मान्यता है। तत्त्वदृष्टि से आत्मा का अस्तित्व ही उसकी नित्यपूर्णता^७ आदि का प्रमाण है। यहां तक तो जैन एवं अद्वैत वेदान्त में साम्य है।

१. स०सा० १०।४।

२. छान्दो०

३. तैत्ति० ३।८, २।७।

४. प्र०सा० १।५९-६०।

५. Ramchandran N. The Concept of Mukti in Ind. Phil. (Pro. of Ind. Phil. page 194.

६. शं०भा० २।३७; छान्दो० ८।७.१२, तैत्ति० २।१-७

७. ईश० १; शं०भा० १।१।४

फिर जैन एवं अद्वैत दोनों के अनुसार आत्मा को चैतन्यस्वरूप माना गया है। जबकि अज्ञान के कारण आत्मा की देहासक्ति ही बंधन है तो आत्मा अवश्यमेव अभौतिक है। आत्मा अबाधित एवं अबाध्य निर्विशेष सत्ता मात्र है जो सब स्थितियों में विद्यमान है।^१ जिस क्षण हम आत्मा के निषेध का प्रयास करते हैं, उसी क्षण हम इसका अज्ञात रूपेण भाव कर देते हैं। यह विशुद्ध सत्ता ही विशुद्ध चैतन्य है। अतः आत्मा चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हां यह चैतन्य क्षणस्थान विज्ञान-प्रवाह नहीं है। यह सामान्य और नित्य चैतन्य है।^२ यह निर्विशेष-चैतन्य^३ ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान के अभेद से बिल्कुल विशुद्ध, अनन्त, बहिरात्म एवं पूर्ण ज्ञान है।^४ जैन दृष्टिकोण से जीव भी एक द्रव्य या सत्ता है, जो सत्य है और अस्तित्ववान है। यही नहीं वेदान्त की तरह यहां भी जीव का सबसे प्रमुख लक्षण चेतना या उपयोग^५ माना गया है। यही नहीं दोनों में आत्मा का वर्णन नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द आदि कहकर किया गया है।^६

आत्मा और परमात्मा

सांसारिक जीव का जो वर्णन शंकर द्वारा किया जाता है, वह जैन मत के बिल्कुल समानान्तर है। जैनमत में आत्मा के विविध रूपों का वर्णन है—स्व समय (परमात्मा) तथा पर समय (जीवात्मा)।^७ स्व समय ही उपनिषद् के परमात्मा या वेदान्त के ब्रह्म की तरह है। शंकराचार्य परमसत्ता ब्रह्म को परमात्मा कहते हैं। बल्कि उनके लिए तो परमात्मा और 'ब्रह्म' पर्यायवाची शब्द हैं। जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का सिद्धान्त उपनिषद् और दर्शन में समान है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि कुन्दकुन्द एवं शंकर दोनों ही जीवात्मा और परमात्मा की एकता प्रकट करने के लिए "अद्वैत" शब्द का व्यवहार करते हैं।^८ जीवात्मा ही कर्ता, भोक्ता

१. शं०भा० २।१।११; भ०गी० २।१३

२. अद्वैत मकरंद ११-१३

३. सं०सि०सा०सं० १२।८-४१; शं०भा० ३।२।१६, विश्वनाथ मुक्तावली ५

४. विवेक चूड़ामणि पृ० २३९

५. प०प्र० ३।९, प्र०सा० २।९०; प०का०सं० १।२७; प्र०सं० २

६. तुलना—वेदान्तसार (सदानन्द) १७१ (निखिलानन्द अनुवाद), सं०सा० १।३७, ८।१४; त०सू० २।८

७. सं० सा० पृ० १, २

८. सं० सा० की भूमिका पृ० १५२

और दुःखभोगी है।^१ उपाधियुक्त आत्मा ही कर्ता, सुखभोक्ता एवं दुःखभोक्ता है, जिससे परमात्मा मुक्त है।^२ श्री योगीन्द्र का “परमात्म-प्रकाश” सचमुच एक प्रत्ययवादी विचार समुपस्थित करता है क्योंकि वे कहते हैं—“आत्मा प्रत्यक् है पराक् नहीं।” परमात्मा ही शान्ति, सुख और आनन्द है।^३

त्रिविध आत्मा के सम्बन्ध में योगीन्द्र, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, गुणभद्र, अमृतचंद्रादि सब एकमत हैं। उसी तरह जैनतर साहित्य में विशेषकर उपनिषदों के “पंचकोष” के सिद्धांत में भी ऐसा संकेत मिलता है।^४ अन्ततः ये तीनों एक ही हैं।^५ आत्मा चैतन्य एवं अमूर्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और परमात्मा भी अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं आनन्द ही हैं। अतः आत्मा ही परमात्मा है। केवल कर्मबन्धन के कारण ही परमात्मा को आत्मा माना गया। योगीन्द्र के परमात्मा को आध्यात्मिक विकास में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है, जो कर्ता-कर्म से भी परे है।

फिर भी यह अस्वीकार नहीं ही करना होगा कि दोनों में इतना साम्य रहते हुए भी हम उपनिषदों के उदात्त अद्वैती और सर्वेश्वर सर्ववादी भावना के वैभव का जैनमत में अभाव पाते हैं। जैनों के अनेक जीववाद का सिद्धान्त प्रत्यक्ष ही अद्वैत के अनुकूल नहीं दीखता है।^६ यद्यपि यह विचार अन्य जैन मूलग्रन्थों या जैनमत के अनुसार द्रव्य के सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न पड़ता है। द्रव्य विश्वरूप में शाश्वत भाव एवं अनन्त रूप में विद्यमान है। जातिगत दृष्टि से द्रव्य एक है, जो सभी वस्तुओं के मूल में है। यही विभिन्न पर्यायों में अपने को अभिव्यक्त करता है।^७ जो सत्ता से अभिन्न है, वही द्रव्य है, जो ‘द्रु’ धातु से निकला है और जिसका अर्थ होता है “द्रवित होना”। यह सत्ता या सत्त से अभिन्न है।^८ यही सत्य है।^९ कुन्दकुन्द तो यहां तक कहते हैं कि उत्पाद और व्यय पर्यायों का होता है द्रव्य का नहीं। द्रव्य तो नित्य और अविकृत है।^{१०} उमास्वामी ने द्रव्य या सत्ता की परिभाषा सत् से

१. बृह० ४/३/१२; तैत्ति० ३/५; शं० भा० २/३/३३

२. शं० भा० १/३/१९

३. प्र० सा० की भूमिका—(Detailed summary of Pravachana Sara)

४. तैत्ति० २/१.५

५. Mysticism in Maharashtra—P. 326.

६. स० सा० १-१; प्र० प्र० (भूमिका); द्र० सं०—३, १२, : पं० का स० १/१६; गोमट्टसार (जीव कांड)—१४१/२

७. पं० का स०—१/८

८. प्र० सा०—९

९. ऊपर—१०

दी है।^१ सत्य ही सत्ता है, और सत्ता ही सत्य है, या सत्य ही सत् या अस्तित्व है। अतः अस्तित्व ही सत्ता और सत्ता ही अस्तित्व है। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि चूँकि सभी का अस्तित्व है, अतः सभी एक ही हैं।^२ स्थानांग सूत्र भी 'एगे साये, एगे लोये'^३ कहकर इसका समर्थन करता है। अतः हम इस तरह अपने को उपनिषद् या वेदान्त के आध्यात्मिक अद्वैतवाद के बिलकुल समीप पाते हैं।

हलांकि यह सही है कि उपर्युक्त बातों के बावजूद भी जैनों का द्वैत के प्रति पक्षपात उन्हें सत्ता में भी भौतिक एवं चैतन्य सत्ता का असंगत भेद करने को बाध्य करता है। सत्य सत्य है, यथार्थ यथार्थ है। यह स्वयं पूर्ण है। यहाँ उस स्तर पर कर्ता एवं कर्म का कोई भेद नहीं है। किन्तु इस प्रकार के सर्व-व्यापी सत्ता का विचार केवल चिदात्मक ही हो सकता है। अतः अप्रौढ़ता के कारण जैन सूत्रों में इस प्रतीयमान द्वैत का निराकरण नहीं कर सके और जीव द्रव्य एवं अजीव द्रव्य का भेद कर दिया। यद्यपि कुन्दकुन्द, उमास्वाती ऐसे-ऐसे अन्तरवर्त्ती विचारकों में इस प्रकार का प्रात्यक्षिक अन्तर नहीं मिलता।

अतः अत में जैनमत को अद्वैत सिद्धान्त स्वीकार करना ही होगा। यद्यपि जीव और अजीव का बिलकुल विरोधी स्वभाव है, फिर भी इस विरोध के अन्तर्भूत एक एकता है जिसे हम विरोधों का सामंजस्य^४ कहेंगे। मात्र जीव या अजीव, चेतन या जड़ वस्तु शून्य विचार है। वस्तुतः ये दोनों एक ही धातु के दो खण्ड हैं। यह वह वास्तविक सामान्य है जिसमें एक ही सत्ता साथ-साथ संयुक्त और वियुक्त दोनों है। यही अनेकता में एकता या भेद में अभेदत्व है।

योगीन्द्र और कुन्दकुन्द आत्मा और परमात्मा का अभिन्नत्व ही बताते हैं। 'द्रव्य संग्रह' के प्रणेता नेमिचंद्रजी का भी यही विचार है कि जीव का भेद या कर्तृत्व केवल व्यवहार की दृष्टि से सत्य है।^५ अनेक जीववाद एक सापेक्ष विचार है जो हमें तब प्राप्त होता है जब हम संवेदना अनुभूति एवं बंधन का विचार करने लग जाते हैं। सचमुच मनोवैज्ञानिक स्तर पर तो जीवों की अनेकता अस्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।^६ स्वयं शंकराचार्य भी जागृतावस्था या व्यावहारिक दृष्टि से उसे अस्वीकार नहीं

१. त० अ० सू०—५/२९

२. त० सू० भा०—१/३५

३. स्था० सू०—१/१; १/४

४. राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी—पहला भाग—पृ० ३३९

५. द्र० सं०—३७.८

६. राधाकृष्णन्—(उपर) भा०—१ पृ० ३३९

करते। किन्तु दर्शन में हम केवल मनोवैज्ञानिक या अनुभवगम्य व्यावहारिक जगत् का ही विचार नहीं करते। यहां हम तर्क का भी उपयोग करते हैं और तर्क को असंगतियों से असंतोष है। सामान्य व्यावहारिक अनुभूतियों के विश्लेषण करने में प्रथम हमें अनेकवाद एवं सापेक्षवाद के दर्शन होते हैं, और जैनमत इसके अवश्यंभावी परिणाम को प्राप्त किए बिना केवल इसी से अपने को संतुष्ट कर लेता है।^१ अनेकवाद या व्यवहारगत वास्तविकता से किसी को कोई विवाद नहीं, किन्तु यह पारमार्थिक सत्य नहीं हो सकता जिस तरह ससीम में ही असीम का अर्थ अभिप्रेत है, उसी प्रकार हम एक निरपेक्ष परम तत्त्व के बिना सापेक्षता की मान्यता कदापि स्थिर नहीं रख सकते हैं।

इस तरह हम मूलरूप से जैन एवं अद्वैत दर्शनों में अत्यधिक साम्य पाते हैं। प्रो० चक्रवर्ती ने इसका एक अद्भुत प्रमाण दिया है।^२ उन्होंने कहा है कि जिस समय शंकर आत्मा के सम्बन्ध में गलत सिद्धांत का विवेचन करते हैं उस समय वे बौद्ध, सांख्य, योग, वैशेषिक, पाण्डुपत^३ आदि का नाम लेते हैं लेकिन आश्चर्य की बात है कि उक्त सूची में जैनमत का उल्लेख नहीं करते। शायद यह समझकर कि जैन दर्शन में वेदांत की तरह ही जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य बताया गया है।

अतः शंकराचार्य जैनमत के बिल्कुल समीप हैं। ब्रह्मसूत्र के अन्य भाष्यकारों की तरह शंकराचार्य यह नहीं मानते कि अविद्याग्रसित जीव एक ही है। अन्तःकरण से बद्ध प्रत्यगात्मा अथवा कूटस्थ और विशुद्ध चेतना ही ब्रह्म है, जो अनेक जीव-सा प्रतीत होता है।^४ यह विचार अन्य वेदान्तियों में प्रचलित एक जीववाद के प्रतिकूल है। अनेक जीववादियों की भी अनेक युक्तियां हैं। उनके अनुसार जीव अनेक हैं, और जगत्भ्रम सामान्य रूप से स्थायी नहीं है। किन्तु प्रत्येक जीव अपने लिए स्वयं भ्रम की सृष्टि करता है।^५ इसी से इस "दृष्टिवाद" का सिद्धांत फलित होता है, जिसके अनुसार विज्ञान (चेतना) ही वस्तु की सृष्टि करता है, यही नहीं वरन् विज्ञान के अतिरिक्त वस्तु ही नहीं।^६ उपनिषदों में भी आत्मा और जीव में भेद किया गया है।^७ अतः एक जीववाद सिद्धांत तो स्वयं उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र के विरुद्ध ही पड़ता है।^८

१. हिरयंन्ना—आउट लाइन्स आफ इंडियन फिलासफी—पृ० १७१

२. प्रो० चक्रवर्ती—सं० सा० की भूमिका P.LLX; शं० भा० १/१

३. राधाकृष्णन्—(ऊपर जैसा)—भा० २ पृ० ६१०

४. दासगुप्त—हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी—भाग १; पृ० ४१७

५. ऊपर जैसा—पृ० ४७८

६. बृ० ४/३/२१; ४/३/३५; श्वे० ४/६; १/९।

७. ब्र० सू० २/१/३२; २/१/३३

नय या दृष्टिकोण का सिद्धांत

हम देखते हैं कि किसी वस्तु के विषय में एक या अनेक कहना इस पर निर्भर करता है कि हम किस दृष्टिकोण से कह रहे हैं। शंकराचार्य भी कहते हैं कि यद्यपि देवदत्त एक ही व्यक्ति है, फिर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से वह तप पुरुष, वेद विशारद ब्राह्मण, उदार, बालक, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, जमाता आदि शब्दों से भी घोषित हो सकता है।^१ यह जैन स्याद्वाद या अस्तित्वास्तित्वाद् से बहुत मिलता है। यहां तक कि उपनिषदों में इसकी ओर संकेत मिलता है कि सत्य हमारे ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में प्रकट होता है।^२ यह नय भेद या दृष्टिकोण भेद, शंकर वेदांत एवं जैनमत में सामान्य रूप में वर्तमान है। शंकराचार्य स्वयं व्यावहारिक सत्ता से पारमार्थिक सत्ता को अलग करते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण व्यवहार जगत् तक ही उपयोगी एवं अनिवार्य है। जैसे एक अनार्य केवल अनार्य की भाषा के माध्यम से ही समझ सकता है, उसी तरह व्यावहारिक जीवों को पारमार्थिक तत्त्वों का ज्ञान व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही हो सकता है।^३ किंतु स्पष्टतः अपने में यह अपूर्ण है। अतः हमें ऊपर उठना अपेक्षित है इसलिए कुन्दकुन्द सभी समस्याओं पर इन दोनों दृष्टिकोणों से विचार करते हैं। अस्तु वे अनुभव जगत् का विश्लेषण व्यवहारनय से करते हैं तथा पारमार्थिक जगत् का विचार निश्चय नय से करते हैं।^४ अतः अपेक्षाकृत अविकसित विचार का विकसित विचार के लिए अतिक्रमण कदाचित् इसकी उपेक्षा नहीं है।^५ इसे अफलांतू^६, स्पीनोजा^७, हीगेल^८, जेम्स^९ बर्गसां,^{१०} आदि दार्शनिकों ने पश्चिम में तथा वेद,^{११} उपनिषद्,^{१२}

-
१. चक्रवर्ती—स० सा० की भूमिका —LLIX
 २. राधाकृष्णन्—इंडियनफिलासफी, भाग—१ पृ० २९९
 ३. स० सा० १/९
 ४. चक्रवर्ती—स० सा० की भूमिका CLI
 ५. मैकटेगर्ट—Hegelian Cosmology—II पृ० २९२
 ६. Cp. Perception and knowledge
 ७. Imagination, Reason. Intuition —Ethics. Vol-II 29
 ८. मैकटेगर्ट—ऊपर जैसा-II पृ० २९२
 ९. Institutional and Personal Religion.
 १०. Intellect and Intuition.
 ११. ऋग्वेद—१०/१२९/९.२
 १२. मु० १/४५.

बौद्ध,^१ जैन^२ और वेदांतियों^३ ने पूर्व में समर्थन किया है। प्रसिद्ध उपनिषद् व्याख्याता डाइसन ने ठीक ही कहा है, कि अपराविद्या व्यावहारिक तत्त्वज्ञान है, जो अविद्या एवं जीवजन्म स्वाभाविक वास्तववाद से प्रकट होता है।^४ अतः व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टिकोणों का भेद केवल वेदान्त और जैन मत में ही नहीं उपनिषद् और बौद्धमत में भी एकसा है।

सर्वज्ञता-विचार

हमारा प्रातिभासिक ज्ञान ही तात्त्विक ज्ञान की ओर संकेत करता है जो इंद्रिय-गम्य प्रमाणों के परे है।^५ अनुभव ज्ञान की स्पष्ट अपूर्णता का विचार करके ही जैन और अद्वैत वेदांत ने तत्त्वज्ञान प्राप्ति का दूसरा ही साधन ढूँढा है। मति-श्रुत अवधि और मनःपर्यय से भी संतुष्ट नहीं होकर जैनाचार्यों ने 'केवलज्ञान' या 'सर्वज्ञता' का संधान किया है, जिसे हम अतीन्द्रिय^६ अपरोक्षानुभूति की पराकाष्ठा ही मानेंगे। जहाँ जीव सम्पूर्ण पर्यायों के सहित सभी द्रव्यों को जान लेता है।^७ सर्वज्ञता में अनभिज्ञता का अभाव है।^८ सर्वज्ञ के लिए जीव और ज्ञान समव्यापी है। हाँ यह ज्ञान साक्षात्, सद्यः एवं संशयहीन होता है। उसी को अद्वैत वेदांत अनुभूति, अनुभव, साक्षात्कार, सम्यक्ज्ञान,^९ या सम्यक्-दर्शन^{१०} की संज्ञा देता है। सर्वज्ञता चैतन्यरूप ज्ञान-तंत्र का शीर्ष-बिन्दु है।^{११} यह चैतन्यमय जीव के स्वाभाविक चैतन्य की पूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसका आविर्भाव सम्पूर्ण उपाधियों के आत्यन्तिक क्षय होने पर ही होता है, और जिसे हम विशुद्ध अनुभवातीत

-
१. इन रीली० इथीक्स भा० ९ पृ० ८४९; भाग १० पृ० ५९२
 २. स० सा०—६७
 ३. सि० लं० स०—१
 ४. Deussen P. System of Vedanta—पृ० 100
 ५. राधाकृष्णन्—ऊपर, भाग-२; पृ० ५०९
 ६. मेहता—आउट लाइन्स ऑफ जैन फिलासफी—पृ० ९९
 ७. त० सूत्र (आ नि०) ७७ /१०
 ८. त० सू० भा०-१/३१
 ९. शं० भा०-१/२/८
 १०. शं० भा० १/३/१३
 ११. मेहता ऊपर—पृ० १०२

उपलब्धि या “तत्” कहेंगे।^१ जैन साहित्य सर्वज्ञता-विषयक साहित्य से परिपूर्ण है।

सर्वज्ञत्व-सिद्धि के अनेकों प्रमाण हैं। अनुभव एवं व्यवहार भी ज्ञान-क्रम और इसके विकास में सर्वज्ञता का संकेत देता है। इसलिए हेमचंद्र भी कहते हैं कि सर्वज्ञता का प्रमाण ज्ञान के क्रमिक विकास की अवश्यंभावी अंतिम परिणति है।^३ “अनन्त धर्मात्मक वस्तु”—का तत्त्वज्ञान भी किसी असाधारण ज्ञान की ही अपेक्षा रखता है। बुद्धि प्रतिभा एवं वैयक्तिक मानसिक विषमताएं भी सर्वज्ञता की ओर संकेत करती हैं। धार्मिक एवं उदात्त रहस्या-नुभूति भी सर्वज्ञता को सिद्ध करती है। तार्किक दृष्टिकोण भी उसके अनुकूल ही है क्योंकि हेमचंद्र के अनुसार सर्वज्ञता के विरुद्ध कोई प्रकरण नहीं है।^५

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वेदांत जिसे निषेधात्मक रूप से उपस्थित करता है, उसे ही जैन-दर्शन भावात्मक रूप से प्रतिपादित करता है। अतः वेदांत जहां अविद्या के साथ दुःख को सम्बद्ध करता है, वहां जैनमत सर्वज्ञता के साथ सुख प्रतिपादित करता है। वेदांत जीव को ब्रह्म से विलीन कर अविद्या का अंत करता है वहां जैन दर्शन के अनुसार व्यष्टि ही समष्टि बन जाता है।^५ जैन मतानुसार प्रत्येक सत्ता का सम्बन्ध विश्व की समस्त सत्ताओं से है।^६ कोई वस्तु बिलकुल असम्बद्ध या स्वतंत्र नहीं है। अतः किसी एक वस्तु का सर्वाङ्गीण ज्ञान अखिल वस्तुओं का सम्पूर्ण ज्ञान है। जैकोबी^७ ने उसी प्रसंग में एक जैन सूत्र का उद्धरण दिया है, वह है—“जो किसी एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है, और जो सबों को जान जाता है वही सबों को पूर्ण रूप से जानता है।” यहां अन्तर्ज्ञान या आत्मज्ञान या आत्म-साक्षात्कार की पराकाष्ठा है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान है जिसका आविर्भाव सभी

१. उपर ९९, राधाकृष्णन् ऊपर-भाग-२, पृ० ५५

२. अष्टशती, न्याय विनिश्चय, ३६१, २ षडखंडागम—२२/७८

प्र० का० मां—२५४-६०; पंच नमस्कार मंत्र—४/१०-२०

जयधवला—पृ० ६६ आ० सू०-२/३/३० आ० नि० १२७, भर्तृहरि—
२/३०-३२

३. प्र० मी० (टाटिया एवं मुखर्जी)—पृ० ३०

४. ऊपर—पृ० ३४

५. प्र० सा० की भूमिका

६. Studies in Jaina Philosophy (Tatia) P-70

७. जैन सूत्र २ पृ० ३४

८. तुलना—आ० सू० १/३/४

उपाधियों के क्षय होने पर ही होता है।^१

यहां तक हमें एक विशिष्ट सापेक्षतावाद का दर्शन होता है। किसी सर्वज्ञ को स्याद्वाद की सीमाएं मर्यादित नहीं करतीं। जीव स्वभावतः सर्वज्ञ है। इसमें ज्ञानान्ध करने वाला मोह का आवरण उठ जाता है। अतः सापेक्षतावाद के सिद्धांत में भी निरपेक्ष ब्रह्म की कल्पना निहित है।

विभिन्न नयों द्वारा उपलब्ध ज्ञान का योगांक मात्र ही हमें परम सत्य को नहीं बतला सकता है। सत्य उन सब पहलुओं का अव्यवस्थित योग नहीं बल्कि समन्वयशील समूह है। डा० राजू महोदय का विचार है कि जैनों का सापेक्षतावाद ज्ञान सापेक्षतावाद है। जहां सत्ता^२ है, उसका स्वभाव भी निश्चित है, हां उसे हम दूसरी तरह से भी समझ सकते हैं।^३ किन्तु सर्वज्ञ के लिए सापेक्ष नहीं बल्कि निरपेक्ष एवं अनैपाधिक ज्ञान होगा। अतः सापेक्षवाद की परिणति निरपेक्षवाद में निश्चित ही है। किसी क्षण हम केवली के अपरोक्षानुभूति को स्वीकार कर लेते हैं, तो हमारे सामने असीम निरपेक्ष अद्वैत आ ही जाता है।^४

७. कारणवाद

जैन तत्त्व ज्ञानानुकूल ही कुन्दकुन्द कारण-कार्य की अभिन्नता का अनुसरण करते हुए 'चेतन से चेतन' और 'अचेतन से अचेतन' की सृष्टि का सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं। फिर सर्व सत्ताधिष्ठान ब्रह्म में विश्वास करने वाला अद्वैत वेदांत भी कारण-कार्य अभिन्नत्व ही मानता है।^५ जैनमत में यद्यपि जीव और अजीव परस्पर विरोधी हैं, फिर भी उच्चतर सत्ता-जगत् में उनके विरोध का शमन हो जाता है। जिस तरह मछलियों से पूर्ण सरोवर और वृक्षों से पूर्ण उद्यान भी जीवन्त दीखता है, उसी प्रकार अजीव भी जीवित दीखता है। जैन जगत में कोई भी वस्तु शुष्क, मृत, जीवहीन नहीं है।^६ इस दृष्टि से भी अद्वैत जैनमत के समीप ही पड़ता है।

१. तुलना—प० मु० २/१०; त० अ० सू० १०/१; न्याया० २७; द्र० का० १/१ प्रमाणनय तत्वालोकाकार—११-१९; स्था० सू०-२२६; द्र० सं०—५; राज० प्रश्नीय-१६५

२. The Review of Metaphysics. vol. VII No. 4. June 1954-p-107

३. उपर पृ०-६९७

४. राधाकृष्णन्—इंडियन फिलासफी, भाग-१ पृ० ३४०

५. स० सा० की भूमिका—CLVII

६. राधाकृष्णन्—ई० फि० भाग-१, पृ० ३३४

८. उपसंहार

व्यवहार और स्वभाव से भिन्न तत्त्व भी सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध या एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते ।^१ यहां तो समस्त विश्व की एक सत्ता है जो द्रव्यरूप में गुण एवं पर्यायों को अपने में समवेत करता है। वस्तुतः जैन दर्शन हमें एक अखंड विश्व की ही कल्पना देता है ।^२ सबों की सत्ता है, अतः सब एक ही है ।^३ स्थानांग सूत्र में भी “एगे आए एगे लोए” कहकर इसकी पुष्टि की गयी है ।^४ किंतु अभाग्यवश जैन तत्त्व ज्ञान को इस दिशा में नहीं बढ़ने दिया गया ।^५ राधाकृष्णन ने कहा है कि जैनों का अनेकवादी यथार्थवाद अपने में एक महान असंगति है जिसकी पूर्णता अद्वैत में अनिवार्य है ।^६ चूंकि जीव एवं अजीव अन्योन्याश्रित हैं, अतः यह द्वैत अंत में अद्वैत में परिणत होगा ही ।^७ खैर जो भी हो, चाहे जैनमत को अद्वैत में परिणत किया जा सकता है या नहीं किन्तु यह तो निश्चित है कि जैनमत में अद्वैतवादी प्रवृत्तियां हैं ।^८

९०. अ० स० पृ० ११३

९१. मुखर्जी (सतकारी)—The Jaina Philosophy of Non-absolutism, p-301.2

९२. त० सू० भा०-१।३५

९३. स्था० सू० १/१, १/४

९४. मुखर्जी (ऊपर) पृ० ३०२

९५. राधाकृष्णन् (ऊपर)—पृ० ३४०

९६. हिरियन्ना (ऊपर)—१७२

९७.

संकेत-सूची

आ० नि—आवश्यक निर्युक्ति

आ० सू०—आचारांग सूत्र

अ० स०—अष्ट सहस्री

भ० गी०—भगवद्गीता

ब्र० सू०—ब्रह्म सूत्र

बृ०—बृहदारण्यक उपनिषद्

छान्दो०—छान्दोग्य

श्वेत०—श्वेताश्वतर

ईश—ईशावास्य

कठ—कठोपनिषद्

तैति०—तैतिरीयोपनिषद्

मा०—मांडूक्योपनिषद्

मुंड—मुंडूक

म० नि०—मंभिम निकाय

द्र० सं०—द्रव्य संग्रह

इ० आ० ई०—Encyclopaedia of Religion and Ethics
(Hastings)

मा० वृ०—माध्यमिक वृत्ति

न्या० मं०—न्याय मंजरी

न्या० भा०—न्याय भाष्य

प्र० प्र०—परमात्म-प्रकाश

प्र० सा०—प्रवचन सार

पं० का० सा०—पंचास्तिकाय सार

प० मु०—परीक्षामुखम्

प्र० का० मा०—प्रमेयकमलमार्तण्ड

ऋ०—ऋग्वेद

स० सा०—समय-सार

सं० सि०—सर्वार्थ सिद्धि

सां० कौ०—सांख्य तत्त्व कौमुदी

सां० का०—सांख्य कारिका

श्लो० वा०—श्लोक-वार्तिक

सं० सि० सा० सं०—सर्व सिद्धांत सार संग्रह

शं० भा०—शांकर भाष्य

सि० ले० सं०—सिद्धन्तलेश संग्रह

त० सू०—तत्त्वार्थ सूत्र

त० आ० सू०—तत्त्वार्थाधिगम् सूत्र

त० सू० भा०—तत्त्वार्थसूत्र भाष्य

उ० सू०—उत्तराध्ययन सूत्र

वि० म—विशुद्धि मग्ग

यो० भा०—योग भाष्य

उ—उदान

जैन धर्म में आस्तिकता के तत्त्व

जैन धर्म में अस्तिकता के तत्त्व हैं या नहीं, इसके पूर्व हमें “आस्तिकता” का अर्थ जान लेना चाहिये। मनु के अनुसार “नास्तिको वेद निन्दकः।” जो वेद को आप्तमानकर उसे नित्य और अपौरुषेय मानकर उसे परम सत्य मान लेता है उसे आस्तिक कहते हैं। इस दृष्टि से षड्-दर्शन ही आस्तिक दर्शन कहे जायेंगे, चाहे सांख्य और मीमांसा की तरह वे निरीश्वरवादी ही क्यों न हों। किन्तु पाणिनि की परिभाषा अधिक शास्त्र-सम्मत मानी जाती है जिसके अनुसार जो परलोक में विश्वास करता है वह आस्तिक, जो इसके विपरीत है, वह नास्तिक। इस दृष्टि से चार्वाक को छोड़कर षड्-दर्शन के अलावा जैन और बौद्ध दर्शन भी आस्तिक माने जायेंगे क्योंकि कर्मफल में उनका विश्वास है। परलोक का कर्मवाद के साथ अनुस्यूत सम्बन्ध है। हरिभद्र ने षड्-दर्शन समुच्चय में पाणिनि की परिभाषा में किञ्चित् संशोधन करके नास्तिक उसे बताया है जो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता है। इस दृष्टि से भी केवल लोकायत-दर्शन ही नास्तिक माना जाएगा, हां ब्रौद्धों के अनात्मवाद के कारण कुछ शंका हो सकती, हालांकि वे भी पंच-स्कन्ध को स्वीकार करते ही हैं। लेकिन जन साधारण आस्तिक का अर्थ ईश्वरवादी और नास्तिक का निरीश्वरवादी लगाते हैं। इस दृष्टि से भले ही जैन-दर्शन पर ठीक से विचार करना आवश्यक है।

ईश्वरवाद में ईश्वरवाद को जन्ममात्र के प्रतिनिमित्त मानकर उसे कर्ता, धर्ता और हर्ता के अलावा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक आदि विभूतियों से विभूषित माना गया है। यानी इस लोक में जो स्थान प्रभुसत्ता सम्पन्न राजा का है, वही परलोक में परमेश्वर का है। वह अनादिकाल से क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से सर्वथा अछूता है। उसका ऐश्वर्य अविनाशी है। इसलिये जब संसार में अनन्त जड़ और चेतन पदार्थ, अनादिकाल से स्वतंत्र सिद्ध हैं, जब ईश्वर ने भी असत् से किसी भी एक सत् पदार्थ को उत्पन्न नहीं किया, तब एक सर्वाधिष्ठाता ईश्वर मानने की जरूरत ही क्या है? आप्त-परीक्षा में कहा ही गया है—

ना स्पृष्टः कर्मभिः शाश्वद् विश्व दृश्वास्ति कश्चन ।

तस्यानुपाय सिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥

ऐसा ईश्वर मानने में जैनों को कई कठिनाइयां हैं। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं करुणावान् दोनों है तो फिर संसार में दुःख क्यों है? अदृष्ट का

नाम लेना व्यर्थ है क्योंकि अदृष्ट को भी तो ईश्वर ही उत्पन्न करता है। अनादिकाल से जड़ और चेतन पदार्थ अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप स्वभाव के कारण सापेक्ष होकर स्वयं परिणमन करते हैं। इसके लिये किसी अधिष्ठाता एवं नियंत्रक की जरूरत ही क्या है? नित्य एक और समर्थ ईश्वर से समस्त क्रमभावी कार्य युगपत् उत्पन्न हो जाने चाहिये। सहकारी कारण भी तो ईश्वर को ही उत्पन्न करता है। सर्व व्यापक ईश्वर में तो क्रिया भी नहीं हो सकती। उसकी इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति भी नित्य हैं, अतः क्रम से कार्य होना कथमपि संभव नहीं है। जगत्-उद्धार के लिये यदि ईश्वराश्रित रहा जाए तो मानवीय पुरुषार्थ एवं सदाचरण भी व्यर्थ हो जाता है। यदि सृष्टि को प्रयोजनहीन मानें तो फिर यह निरुद्देश्य एवं पागलपन जैसा कार्य है। स्याद्वादमंजरी एवं प्रमेय कमल मार्तण्ड में ईश्वरवाद का खंडन करने के लिये अनेकों तर्क दिये गये हैं। ईश्वर का न तो प्रत्यक्ष होता है न अनुमान से ही उसको जान सकते हैं। न्याय का यह कथन कि चूंकि “हर वस्तु का कर्त्ता होता है, इसलिये इस संसार का भी कर्त्ता होगा”, न्याय-संगत नहीं है क्योंकि आकाश जैसे वस्तु को न्याय नित्य तो मानता है किन्तु किसी से उत्पन्न नहीं मानता। फिर यदि ईश्वर अशरीरी है तो किसी चीज को कैसे उत्पन्न कर सकता है?

ईश्वर के जिन गुणों का भी उल्लेख है, वे भी असंगति उत्पन्न करते हैं। जैसे ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहा जाता है। इस दृष्टि से वे सभी वस्तुओं के उत्पन्न कर्त्ता माने जायेंगे किन्तु दैनिक जीवन में देखते हैं कि बहुत सारे पदार्थ जैसे घर, बर्तन आदि मानव-कृत हैं, ईश्वर-कृत नहीं। यह कहना कि ईश्वर सृष्टि की अनेक योजनाओं को समन्वित करता है, कोई खास अर्थ नहीं रखता। संसार में भी अनेक मानव मिलन अपने-अपने कार्यों में एक विशेष कार्य के लिये सामंजस्य पैदा करते हैं। फिर ईश्वर को सर्वथा पूर्ण मान लेने का अर्थ है कि वे कभी अपूर्ण थे जो आज पूर्ण हुए।

लेकिन चूंकि जैन-दर्शन स्रष्टा ईश्वर को नहीं मानता है इसलिये इसको नास्तिक मान लेना गलत होगा। असल में जैन धर्म ईश्वर में विश्वास करता है, भले ही उसके ईश्वरत्व की कल्पना भिन्न है। विश्व के वैविध्य की व्याख्या करते हुए जैन-दर्शन काल, स्वभाव, नियम, कर्म और उद्यम नामक पंच तत्त्वों के संयोग को स्वीकार करता है। इन्हीं तत्त्वों के विभिन्न संयोग से देवत्व प्रकट होता है जिसे पंच-परमेष्ठि कहा गया है। जैन दर्शन प्रत्येक आत्मा को अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ मुक्त होने की कल्पना करता है। ये मुक्त जीव ही जैन-धर्म के ईश्वर हैं। इन्हीं में से कुछ मुक्तात्माओं को जिन्होंने संसार को मुक्ति-मार्ग बतलाया है, जैनधर्म तीर्थंकर मानता है। चूंकि वह चार घातिय कर्मों का नाश कर देता है, इसलिये उसे अरिहंत

कहते हैं और चूंकि वह कर्मरूप शत्रुओं को जीत लेता है, उसे “जिन” भी कहते हैं। इन्हें अर्हंत भी कहा जाता है और ये अनन्त चतुष्टय प्राप्त होते हैं। अर्हन्त कर्मबल से सर्वथा मुक्त नहीं होते किन्तु सिद्ध उससे सर्वथा मुक्त होते हैं। इससे उनका पद अर्हंत से ऊंचा होता है फिर भी सिद्धों के बाद अर्हंतों को नमस्कार किया जाता है—णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं। इतिहास इसका साक्षी है कि जब कृष्ण-भक्तों ने जैन धर्मावलम्बन किया तो २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि को कृष्ण का रूप माना गया। इसी तरह अनेक हिन्दू देवी-देवताओं का जैन-धर्म में अनुप्रवेश हुआ। इसीलिये आज भी जैनों के बीच वैष्णव और गैर-वैष्णव दो भाग हैं। जैन सिद्ध और अर्हंत की उसी प्रकार पूजा करते हैं जिस प्रकार ईश्वर की अर्चना और उपासना होती है। इसलिये यद्यपि जगत-स्रष्टा ईश्वर का यहां अभाव है फिर भी न तो उपासना और भक्ति-भावना का अभाव है न उसके कर्मकाण्डों का? अर्हंतों और सिद्धों की विभूतियों से मानव प्रेरणा प्राप्त करता हुआ मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़ता है। जैन-धर्म में उपासना दया और क्षमा के लिये नहीं बल्कि अन्तः शुद्धि एवं प्रेरणा के लिये है। जो कर्म के अकाट्य-नियम में विश्वास करेगा, वह अनुकम्पावाद को कैसे मानेगा? कर्म का फल तो मिलना ही है। इस दायित्व से उसे कोई छुटकारा नहीं दिला सकता। वास्तव में जैन-धर्म स्वावलम्बन का धर्म है। प्रार्थना कोई प्रशस्ति नहीं जिससे कुछ लाभ मिल सके, यह तो मोक्ष-साधना का मार्ग है।

जैन दर्शन की आस्तिकता का एक और भी आयाम है। आस्तिकवाद के चार अंग होते हैं—‘आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद’, आया बाई, लोयाबाई, कम्माबाई, किरियाबाई।’ जैन-दर्शन इन चारों तत्वों को स्वीकार करता है, अतः इसे आस्तिक मानना चाहिये। असल में जैन-धर्म बाहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है। इसलिये बाह्य-जगत् या मंदिर में भगवान को नहीं खोजता। भगवान तो घट-घट का वासी है। प्रत्येक जीव या आत्मा ईश्वर है। स्वाभाविक स्वरूप में तो प्रत्येक जीव अनन्त चतुष्टय को प्राप्त है ही। यह ठीक है कि कर्म-पुद्गल के प्रभाव से उसकी दैवी शक्तियों का विकास नहीं हो पाता। लेकिन ज्योंही वह संवर और निर्जर के बाद जीव अपने स्वाभाविक स्वरूप में आ जाता है तो वह अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हो जाता है। हम तीर्थंकर या अर्हंत, सिद्ध आदि की पूजा इसलिये नहीं करते हैं कि हम उनसे बिना कर्म किये कुछ प्राप्त कर सकते हैं बल्कि इसलिये कि उन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली है। अतः वे जीवंत आदर्श हैं। उनसे हमें पूर्णता प्राप्ति या आत्म साक्षात्कार के लिये मार्ग-दर्शन मिलता है। प्रेरणा उनकी किन्तु पुरुषार्थ जीव का ही होगा। अतः जैनों की आस्तिकता की भित्ति “आत्मवाद” पर खड़ी है। उपनिषद् भी तो यही कहती है—

“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।” जो आत्मा को जान लेता है वह सबको जान लेता है । ‘आत्मनिविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।’ आत्मा का अस्तित्व ही सबसे मूल्यवान है—“आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।’

खण्ड-२
व्यवहार-दृष्टि : अहिंसा और अपरिग्रह

आधुनिक युग एवं अपरिग्रह

अणुन्नत अनुशास्ता आचार्य तुलसी के समक्ष मैंने अपनी एक जिज्ञासा रखी थी कि क्या कारण है कि जिस बिहार प्रदेश में करूणामूर्ति भगवान बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन एवं अहिंसा के अवतार भगवान महावीर ही नहीं बल्कि जैन-धर्म के कम से कम २४ में २२ तीर्थंकरों का आविर्भाव हुआ था, जहां प्रियदर्शी अशोक सम्राट ने अहिंसा के आधार पर ही राज्य व्यवस्था संचालन का प्रयोग किया, वहां आज देश में सर्वाधिक हिंसा व्याप्त है ? आधुनिक समय में भी सत्य और अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी ने चम्पारण को ही सत्याग्रह का क्षेत्र चुना एवं भूदान-ग्रामदान-यज्ञ रूपी अहिंसात्मक क्रांति के पुरोहित संत विनोबा भावे ने अपने अभियान में सर्वाधिक समय बिहार प्रदेश को ही दिया और अभी-अभी हाल में लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने भी अहिंसा के आधार पर ही संपूर्ण क्रांति के अभियान के द्वारा लोकतंत्र का सफल पुनरावर्तन किया। किन्तु दुर्भाग्य है कि इसी बिहार में अनुमान के अनुसार लगभग ५० लाख अवैध आग्नेय अस्त्र मौजूद हैं, यहीं पर बेलछी में हरिजनों को जलाया गया, भागलपुर में स्वयं पुलिस ने कथित अपराधियों का अंधाकरण किया, विश्वविद्यालय परिसर में अध्यापक एवं विद्यार्थियों की हत्याएं हुईं, जातिगत उन्माद में सैकड़ों जानें गईं, जब साम्प्रदायिक उभाड़ आया तो भी रांची-भागलपुर-जमशेदपुर आदि में हजारों लाशें गिरीं, ग्रामीण हिंसा का दृश्य तो और भी भयावह है। नक्सली लाल सेना और भूमि सेना की प्रतिद्वन्द्विता ने तो इसे हत्याओं का प्रदेश बना दिया। राज्य की हिंसा भी किसी से कम नहीं। अभी हाल में अरवल में तो बिहार की पुलिस ने गांव की एक सभा पर अन्धाधुंध गोलियां चलाकर दूसरा जलियानवाला बाग का दृश्य ही उपस्थित कर दिया।

आचार्यश्री के संकेत से युवाचार्य महाप्रज्ञ ने चर्चा प्रारम्भ करते हुए 'सूयगडो' नामक प्रसिद्ध जैनागम के प्रथम अध्ययन (पढ़मं अज्झयणं) समय (समए) के प्रथम उद्देशक (पढ़मौ उद्देशो) के प्रारम्भ से सुधर्मा-संवाद को उपस्थित किया—

१. आमेट (उदयपुर) राजस्थान ।

चित्तमंतमचितं वा परिगिज्भ कसामवि ।

अराणं वा अणुजाणाइ एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥^१

सुधर्मा ने कहा—“जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थों में तनिक भी परिग्रह-बुद्धि रखता है और दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है, वह दुख से मुक्त नहीं हो सकता।” हिंसा का कारण परिग्रह है। कर्मबंध के मुख्य हेतु दो हैं—आरंभ और परिग्रह, राग-द्वेष, मोह आदि भी कर्म-बंध के हेतु हैं किन्तु वे भी आरंभ और परिग्रह के बिना नहीं होते। इन दोनों में भी परिग्रह गुरुतर कारण है। परिग्रह के लिये ही आरंभ किया जाता है। जंबू ने आर्य सुधर्मा से पूछा—“भगवान महावीर की वाणी में बंधन क्या है और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है ? सुधर्मा ने उत्तर दिया—“परिग्रह बंधन है।^२ बंधन का हेतु है—ममत्व।^३ प्राणातिपात आदि पांच आश्रवों में भी परिग्रह को गुरुतर माना गया है^४ ‘जिससे विरति की जाती है’ चूर्णिकार ने उसे वैर कहा है।^५ हिंसा करना, हिंसा करवाना और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना—ये तीनों गलत हैं। परिग्रह के लिये हिंसा होती है। जहां परिग्रह है वहां हिंसा का होना निश्चित है, इसलिये परिग्रह और हिंसा—ये दोनों परस्पर संत्रंघित हैं। ये एक ही वस्त्र के दो आंचल हैं। ये दोनों बंधन के कारण हैं। यद्यपि राग और द्वेष भी बंधन के कारण हैं, किन्तु वे भी परिग्रह और हिंसा से उत्तेजित होते हैं, इसलिये परिग्रह और हिंसा बन्धन के पार्श्ववर्ती कारण बन जाते हैं।

आगम में अपरिग्रह को अत्यधिक महत्व दिया गया है क्योंकि इसकी मान्यता के अनुसार ‘जीव’ परिग्रह से निर्मित हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्छा करता है।^६ संपूर्ण परिग्रह से मुक्त, शीतीभूत, प्रसन्नचित्त श्रमण जैसा मुक्ति सुख पाता

२. सूयगडो १ (सम्पा.) युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनू,
१९८४, १, १, २

३. वही, १, १, २-३

४. वही, १, १, ४

५. चूर्णि, पृ० २१, २२—‘आरम्भ-परिग्रहो बन्ध हेतु’ पाणातिवातादि आसवाणं परिग्रहो गुरुवतरो त्ति कातुं तेण पुव्वं परिग्रहो वुच्चति ।

६. चूर्णि, पृ० २२—‘विरज्यते येन तद्वरम् ।

७. समणामुतं, सर्वसेवा संघ, वाराणसी, गाथा-१४०, पृ० ४५,

संगनिमित्त मारइ, भणइ अलीअं करैइ चौखिकं ।

सैवइ मैहूण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो ॥

है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता ।^१ परिग्रह-त्याग से इन्द्रियां वश में होती हैं ।^२ संग्रह करना भीतर रहने वाले लोभ की भूलक है ।^३ परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य । आभ्यन्तर परिग्रह के १४ भेद हैं^४ एवं बाह्य परिग्रह के १० भेद हैं ।^५ सजीव या निर्जीव स्वल्प वस्तु का भी जो परिग्रह रखता है अथवा दूसरे को उसकी अनुज्ञा देता है वह दुःख से मुक्त नहीं होता है ।^६ इसका अर्थ है कि परिग्रह में ममता और आसक्ति है ।

“मूर्च्छा परिग्रह है”—ऐसा कहा गया है । मूर्च्छा का अर्थ है किसी भी वस्तु में अपनत्व का अनुभव करना या उसे अपनी मालिकी समझना । यह ममता या अपनत्व की भावना रागवश होता है । फिर उसके अर्जन, संचय एवं संग्रहण के लिये वह निरंतर प्रयत्नशील रहता है । इन बाह्य पदार्थों के ऊपर स्वामित्व स्थापित करने के लिये और ऐसा करके अपने राष्ट्रवासियों की सुख-सुविधा बढ़ाने के लिये राष्ट्रों के बीच युद्ध होते हैं । व्यापार-विस्तार की प्रतियोगिता एवं अपने उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिये बाजारों की खोज और होड़ ही आज के विश्व की सबसे दुर्दान्त समस्या है । संक्षेप में इन सब प्रवृत्तियों की तह में मूर्च्छा ही काम करती है । जैन दार्शनिकों ने बड़ी ही सूक्ष्मता से अपरिग्रह व्रत के अतिचारों को रखा है ताकि व्यावहारिक जीवन में अपरिग्रह की साधना में व्यक्ति को दिशा-निर्देश मिल सके । क्षेत्रवास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, एवं कुप्य-भांड के प्रमाणों का अतिक्रम । ये सब परिग्रह-परिमाण व्रत के पांच अतिचार हैं ।^७ अतिचार के साथ-साथ अपनी ग्रहव्रत की भावनाओं की व्याख्या में भी जैन चिंतकों ने स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्द के प्रति राग-द्वेष वर्णन की बात रखी है । जैन दर्शन के अतिरिक्त भी अपरिग्रह का महत्त्व भारतीय चिंतन में स्वीकार किया गया है । वेद-उपनिषद् में “तेन त्यक्तेन भुंजीथाः” एवं “मा कस्य स्विद् धनम्”^८ कहकर परिग्रह-त्याग का मार्ग प्रशस्त किया गया है । असल में काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बताया गया

१. वही, गाथा-१४५, पृ० ४६ ।

२. भगवती अराधना, (शिवकोटी आचार्य, सोलापुर, १९३५, गा-१११८

३. दशवैकालिक, ६/१९

४. भगवती अराधना (शिवकोटी आचार्य), गा-१११८

५. वही, गाथा-१११९

६. समणसुतं, गाथा-१४१ ।

७. उमास्वामी, तत्त्वार्थ सूत्र, ठ, १७ ; मूर्च्छा परिग्रहः

८. ईशावास्योपनिषद् श्लोक-१,

है।^१ लोभ पर गदा प्रहार के लिये ही अपरिग्रह व्रत की परिकल्पना है। अपरिग्रह को भावात्मक शब्दावली में हम संतोष भी कह सकते हैं जिसका महत्त्व शास्त्रों में पर्याप्त रूप से वर्णित है। योगशास्त्र^२ ने अपने पंच यमों में यदि अपरिग्रह को स्थान दिया है तो नियमों में संतोष का भी उल्लेख किया है। बौद्ध पंचशील^३ एवं मनु स्मृति^४ में स्पष्टतः अपरिग्रह का उल्लेख नहीं है किन्तु 'अस्तेय' को दोनों ने माना है।

जिसकी हमें आज आवश्यकता नहीं है उसे भविष्य की चिंता से संग्रह कर रखना ही परिग्रह है। ईश्वर में अखंड आस्था रखने वाला परिग्रही हो नहीं सकता क्योंकि उसकी मान्यता है कि जिस ईश्वर ने जन्म दिया है, जो आज हमारी जीवन रक्षा कर रहा है, भविष्य में भी वही हमारा संरक्षण करेगा। जिस वस्तु की जब सच्ची आवश्यकता होगी तब वह अवश्य प्राप्त हो जायेगी। इसलिये उसे संग्रह के प्रपंच में पड़ने की आवश्यकता नहीं।^५ यह है सच्ची आस्तिकता और नैतिक नियमों में विश्वास। किन्तु इसका अर्थ पुरुषार्थहीनता से परिपूर्ण भाग्यवाद नहीं होता है। जो शक्तिमान होते हुए भी श्रम नहीं करता उसकी आवश्यकताएं परमेश्वर यों ही पूरी नहीं कर देता। परिश्रम करने की जिसे इच्छा नहीं, जो उसे मुसीबत समझता है, उसके अन्दर तो यह विश्वास ही नहीं जम सकता कि भगवान सबकी आवश्यकताएं पूरी करने वाला है। वस्तुतः वह तो अपनी परिग्रह-शक्ति पर ही भरोसा रखता है। फिर बौद्ध एवं जैन तो श्रमण-संस्कृति की धारारण्य हैं जो आत्म-पुरुषार्थ के धर्म हैं, इनमें तो ईश्वर जैसे अलौकिक तत्व के प्रति परमुखापेक्षी होने की भी आवश्यकता नहीं है। फिर इसका यह भी अर्थ नहीं कि समाज में रहकर अपरिग्रही-व्रती अपने पास आयी हुई वस्तुओं को कहीं रास्ते में फेंक दे या खराब होने दे। वह अपने को उन वस्तुओं का रक्षक समझे और उनकी पूरी हिफाजत रखे, वह पल भर भी अपने को उन वस्तुओं का मालिक न माने। अतः जिन्हें उनसे काम लेने की आवश्यकता हो उन्हें उनका इस्तेमाल करने देने में बाधक न हो।

१. श्रीमद्भगवद्गीता, १६, २१ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण, ७, ११, ८-१२—संतोषः समदृक् सेवा।

२. योगसूत्र, २, ३०।

३. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं मादक द्रव्य निषेध।

४. मनु स्मृति घृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौर्यमिन्द्रियनिग्रहः ७-९२

५. मश्रुवाला, कि० घ०, गांधी विचार दोहन, दिल्ली : सस्ता साहित्य मंडल, दसवां संस्करण, १९६८, पृ० २०-२१।

अपने या बाल-बच्चों के काम आने के ख्याल से एक चिथड़ा भी बटोर रखता है और दूसरे के जरूरत की होते हुए भी इस्तेमाल नहीं करने देता वह परिग्रही है। संक्षेप में परिग्रह या अपरिग्रह एक भावना है। संपत्तिवान भी यदि अपने को संपत्ति का ट्रस्टी मानता है तो वह अपरिग्रही है एवं अकिंचन व्यक्ति भी लोभ में फंसा है तो वह परिग्रही है। अतः परिग्रह तृष्णा और लोभ है, अपरिग्रह संतोष और त्याग की वृत्ति है।

अपरिग्रह केवल व्यक्तिगत नैतिक सद्गुण ही नहीं है, इसका सामाजिक आधार भी है। सर्वप्रथम तो संग्रह व्यक्ति से ही नहीं समष्टि से ही संभव है। यदि समाज असहयोग करे तो व्यक्ति संपत्ति का संग्रह करना तो दूर रहा, उसका अर्जन करने में भी अक्षम रहेगा। शायद इसी को ध्यान में रखकर मार्क्स ने कहा है कि पूंजी एक सामाजिक शक्ति है। (Capital is a social power) दूसरी तरफ परिग्रह के कारण सामाजिक विषमता बढ़ती है और फिर उससे इर्ष्या-द्वेष, कलह आदि उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि धर्माचार्यों ने दान को प्रतिष्ठित किया है। इस्लाम में जकात इसाई धर्म में चैरिटी एवं हिंदू धर्म में दान की महिमा है। शंकराचार्य ने तो “दानं संविभागः” कह ही दिया है जिसका आधार लेकर विनोबा जी ने “भूदान, संपत्तिदान, जीवन दान आदि की परम्परा चलायी है। “सबै भूमि गोपाल की” या “संपत्ति सब रघुपति के आही” जब कहा जाता है तो अपरिग्रह-धर्म परिपुष्ट होता है। केवल जमीन एवं जायदाद ही नहीं हमारा जीवन भी अपने लिये नहीं बल्कि समाज के लिये है। यही भावना लेकर विनोबाजी एवं जयप्रकाशजी ने “जीवन दान” का अभियान प्रारम्भ किया था जो अपरिग्रह-व्रत की पराकाष्ठा है। गांधीजी का ट्रस्टीशिप या विनोबाजी की विश्वस्तवृत्ति का सिद्धांत भी अपरिग्रह व्रत की सामाजिक साधना है। जिस समाज में अपरिग्रह व्रत का प्रतिपालन होगा, वहां पूंजीवाद की समस्या ही नहीं रहेगी और फिर उसके संघर्ष आदि के प्रश्न ही निरर्थक होंगे। किन्तु यदि समाज में व्यक्तिगत परिग्रह बढ़ेगा तो विषमता भी बढ़ेगी, शोषण भी होगा और फिर वर्ग-संघर्ष या रक्तिम-संघर्ष अनिवार्य है।

आध्यात्मिक दृष्टि भी अपरिग्रह के पक्ष में है। जब सभी संपत्ति ईश्वर की है तो उसे केवल अपना समझना ईश्वर-द्रोह है। इसीलिये उपनिषद् त्याग के पश्चात् भोग—“तेन त्यक्तेन भुंजीथाः” और गीता में “यज्ञार्थात्कर्मणो” का आदेश देती है। बाइबिल में तो कहा ही गया है कि “सूई की छेद से एक अँट का निकल जाना संभव है किन्तु परिग्रही व्यक्ति ईश्वर के पास हरगिज नहीं पहुंच सकता।” इस्लाम में भी परिग्रह

की पर्याप्त भर्त्सना है ।^१

मनोवैज्ञानिक रूप से भी यदि हम विचार करें तो परिग्रही-व्यक्ति जितनी सुरक्षा का अनुभव करता है उससे अधिक असुरक्षा का ही अनुभव करता है । उसकी संपत्ति पर चोरों-डकैतों और असामाजिक तत्त्वों के अलावे समाज के अकिंचन लोगों की आंखें लगी रहती हैं । फिर संपत्ति के अपहरण से व्यक्ति को आक्रोश भी होता है और कभी तो “धनशोक”, “पुत्रशोक” से भी बढ़ कर होता है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि परिग्रह की कोई सीमा नहीं होती एवं उसमें सदा एक चिरन्तन अतृप्ति की भावना रहती है । यह एक कष्टकारक प्रसंग होता है । अतः परिग्रह से मनोवैज्ञानिक सुख भी प्राप्त नहीं होता है ।

जिस प्रकार अहिंसा का वैचारिक आधार अनाग्रह या अनेकांत दृष्टि है, उसी प्रकार इसका सामाजिक आधार अनासक्ति या अपरिग्रह है । व्यक्तिगत जीवन में हम जिसे अनासक्ति कहते हैं, सामाजिक जीवन में वही अपरिग्रह हो जाता है । असल में देखा जाए तो अपरिग्रह, अस्तेय और बहुत हद तक ब्रह्मचर्य व्रत भी अनासक्ति के ही व्यावहारिक रूप हैं । व्यक्तिगत जीवन में आसक्ति दो रूपों में अभिव्यक्त होती है—परिग्रह-भाव एवं भोग-भावना, जिनके वशीभूत होकर वह दूसरों के अधिकार की वस्तुओं का अपहरण करता है । इस प्रकार आसक्ति बाह्यतः, तीन रूपों में होती है— (१) अग्रहण या शोषण, (२) आवश्यकता से अधिक परिग्रह या संग्रह और (३) भोग । केवल हत्या या रक्तपात ही हिंसा नहीं है, परिग्रह भी हिंसा ही है क्योंकि बिना हिंसा (शोषण) के संग्रह असंभव है । संग्रह के द्वारा दूसरों के हित का हनन होता है और इस रूप में परिग्रह हिंसा है । अपरिग्रह बाह्य-अनासक्ति है, अनासक्ति आंतरिक अपरिग्रह है । इसी प्रकार समाज या राष्ट्र की संग्रह एवं शोषण-वृत्ति ने मानव जाति को अपार कष्टों में डाला है ।

यही कारण है कि जैन परम्परा ने समविभाग और समवितरण को सामाजिक एवं आध्यात्मिक साधना का आवश्यक अंग माना है ।^२ अनासक्ति की भावना को मूर्त्त रूप देने के लिये गृहस्थ जीवन में परिग्रह और श्रमण जीवन में परिग्रह के साथ त्याग के निर्देश हैं । दिगम्बरत्व शायद आत्यन्तिक अपरिग्रही जीवन का सजीव प्रमाण है । उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार समग्र जागतिक दुखों का मूल कारण तृष्णा है । जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती

१. कुरान शरीफ, ३४, ३५; ३४; ४६-५०; ३५, १; ३५; ५-६; ३५, १०; ३५, १९-२२; २७-२८; ३२ ।

२. उत्तराध्ययन सूत्र, १७, ११; प्रश्नव्याकरण सूत्र, २, ३ ।

है उसका मोह समाप्त हो जाता है और जिसका मोह मिट जाता है उसके दुःख भी मिट जाते हैं।^१ तृष्णा असीम है और भौतिक साधन सीमित हैं। अतः सीमित साधनों से असीमित तृष्णा की पूर्ति हो नहीं सकती।^२ तृष्णा ही परिग्रह का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।^३ आसक्ति की ही दूसरी संज्ञा लोभ है और लोभ सद्गुणों का विनाशक है।^४ इस अनासक्ति को बौद्ध एवं वैदिक परंपराओं ने भी स्वीकार किया है। गीता तो अनासक्ति-योग का काव्य है ही। गीता के अनुसार आसक्ति के कारण ही मनुष्य काम, भोग की पूर्ति के लिये अन्यायपूर्वक धन-संचय की चाह करता है।^५ संक्षेप में अपहरण, शोषण एवं संग्रह आदि की वृत्तियों के मूल में आसक्ति ही है। इसीलिये गीता में आसक्ति और लोभ को नरक का द्वार कहा है^६ इसीलिये गीता अनासक्त या निष्काम कर्म का उपदेश देती है। भगवान बुद्ध की दृष्टि में भी तृष्णा ही दुःख है।^७ आसक्ति ही बंधन है।^८ जो भी दुख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है।^९ आसक्ति का क्षय ही दुखों का क्षय है। जो व्यक्ति तृष्णा को वश में कर लेता है उसके दुख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे कमल पत्र पर रहा हुआ जल बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।^{१०} तृष्णा से दुःख वैसे ही बढ़ते हैं, जिस प्रकार खेतों में वीरण घास गढ़ती रहती है।^{११} यों तो बौद्ध दर्शन में मुख्य रूप से भव तृष्णा, विभव तृष्णा और काम तृष्णा हैं लेकिन सब भेद-उपभेद मिलाकर तृष्णा के १८ भेद माने गये हैं। बुद्ध की दृष्टि में भी परिग्रह के मूल में भी यही तृष्णा या आसक्ति है।^{१२}

यह ध्यान देने की बात है कि जहां जैन, बौद्ध एवं वैदिक परंपराओं ने अनासक्ति को व्यक्तिगत जीवन का सर्वमान्य मूल्य स्वीकार किया है, वहां

-
१. उत्तराध्ययन सूत्र, ३२, ८ ।
 २. उत्तराध्ययन सूत्र, ८, ३८ ।
 ३. दशबकालिक सूत्र, ६, २१ ।
 ४. वही, ८, ३८ ।
 ५. गीता, १७, १२ ।
 ६. गीता, १६, १६ ।
 ७. संयुक्त निकाय, २, १२, ६६; १, १, ६५ ।
 ८. सूत निपात, ६८, ५ ।
 ९. वही, ३८, ५७ ।
 १०. धम्मपद, ३३६ ।
 ११. वही, १८६ ।
 १२. महाभिद्देसपालि, १, ११, १०७ ।

जैन परंपरा ने अनासक्ति की बाह्य अभिव्यक्ति अपरिग्रह को भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन-धर्म माना है। यही कारण है कि ममत्व-विसर्जन के साथ संपदा-विसर्जन पर भी जैन विचारधारा जोर देता है जबकि वैदिक परंपरा में अनासक्त वृत्ति के लिये परिग्रह त्याग आवश्यक नहीं। जनक पूर्ण अनासक्त होते हुए भी राजकाज संभालते थे लेकिन जैन परंपरा का भरत पूर्ण अनासक्ति के आते ही राजकाज छोड़कर मुनि बन जाता है। बौद्ध परंपरा वैदिक एवं जैन परंपरा के मध्य में है क्योंकि जहां जैन धर्म ने मुनि जीवन परिग्रह के लिये पूर्ण त्याग और गृहस्थों के लिये परिग्रह-परिसीमन की बात की है, वहां बौद्ध धर्म ने केवल भिक्षु के लिये ही स्वर्ण-रजत रूप परिग्रह त्याग की अवधारणा प्रस्तुत की है। गृहस्थों के लिये परिग्रह-परिसीमन का प्रश्न भी नहीं उठाया गया है।

असल में अपरिग्रह का प्रश्न केवल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक भी है। आज इसकी राष्ट्रीय एवं जागतिक प्रासांगिकता भी है। परिग्रह, संग्रह और विसर्जन सभी सीधे-सीधे समाज जीवन को प्रभावित करते हैं। यदि अर्जन सामाजिक-आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है तो संग्रह आर्थिक समवितरण को। इसी के विपरीत विसर्जन की वृत्ति लोक कल्याण को प्रभावित करती है। अतः परिग्रह-अपरिग्रह के प्रश्न पूरी तरह सामाजिक प्रश्न हैं। अपरिग्रह का सिद्धांत वस्तुतः अनुचित अर्जन, अनैतिक संग्रह पर गदा प्रहार है। अर्जन और संग्रह अपने आप में बुरा नहीं लेकिन जब इनका आधार शोषण एवं विषमता हो जाता है तो फिर यह समाज के लिये जहर बन जाता है। अन्यायपूर्ण अर्जन एवं शोषण धारित संग्रह ही आर्थिक संघर्षों को जन्म देता है। क्योंकि एक तरफ अनियंत्रित उपभोग, वैभव का वीभत्स प्रदर्शन और दूसरी ओर करुण अकिंचनता का नृत्य होता है, समाज में संपदा की विषमता बढ़ी है। फिर तो वर्ग-संघर्ष अनिवार्य हो जाता है और सामाजिक सुव्यवस्था एवं शांति दिवास्वप्न हो जाती है। यही कारण है कि मार्क्सवाद उत्पादन के साधन एवं स्वामित्व को ही नहीं उसके उपभोग एवं वितरण को सामाजिक व्यवस्था में आबद्ध करते हैं, किन्तु मार्क्सवाद का समष्टिगत अपरिग्रह राजदंड के आधार पर चलता है इसलिये उसे कई प्रकार के निरंकुश व्यवस्था लादने पड़ते हैं। समाजवाद जब तक उपर से लादा जाता रहेगा उससे संगीनों की साया एवं तानाशाही का संबल चाहिये। वास्तव में समाजवाद केवल राज्य ही नहीं, यह एक समाज-व्यवस्था और उससे भी अधिक एक जीवन-पद्धति है। इसलिये यदि समाजवाद को मंगलकारी बनना है तो फिर व्यक्तिगत जीवन में भी अपरिग्रह का मूल्य स्वीकार करना होगा।

लेकिन मार्क्सवादी समाजवाद का आधार-तत्त्व द्वन्द्वात्मक भौतिक-

वाद है और भौतिकवादी जीवन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में संभवतः तृष्णा और आसक्ति पर विजय संभव नहीं है क्योंकि जब आवश्यकता की वृद्धि की पूर्ति के राग में ही रत रहना मानव जीवन का लक्ष्य है तो अपरिग्रह आदि की भावना उनके लिये एक दार्शनिक विसंगति होगी। शायद मार्क्सवाद अभाव और अकिंचनता निवारण की पावन भावना से प्रभावित होकर यह भूल जाता है कि भौतिक सुख भोग एवं आवश्यकताओं की सीमा नहीं है। लोभ से लोभ बढ़ता जाता है। काम भोग से कामतृप्त नहीं होता है। ययाति वृद्धावस्था में जबानी प्राप्त कर भी तृप्त नहीं हुए बल्कि काम तीव्रतर होता गया। जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि शान्त नहीं होती है, उसी प्रकार भौतिक सुखोपभोग से शांति एवं तृप्ति नहीं मिलती है। यही कारण है कि सुकरात ने कहा था हम यदि सुख चाहते हैं तो हमें निर्णय करना होगा कि हम कितनी चीजों के बिना अपना काम चला सकते हैं—(How many things we can do without?) उपमोग्यतावादी संस्कृति के विरुद्ध आज पाश्चात्य जगत् में भी एक अभियान चल रहा है जब स्वैच्छिक सादगी एक जीवन-पद्धति के रूप में अपनायी जा रही है। इस सदी के पाँचवें दशक में यह आन्दोलन शुरू हुआ था और आज कम से कम ५० लाख अमरीकी नागरिक तड़क-भड़क की जिन्दगी को छोड़ स्वैच्छिक रूप से सादगी को अपना चुके हैं। आज के असीमित आर्थिक विकास को शंका की दृष्टि में देखने लगे हैं। शायद वे समझ रहे हैं कि असीमित ढंग से बढ़ती हुई उप-भोक्ता संस्कृति का बोझ हमारी यह धरती संभाल नहीं सकेगी।^१

टालस्टाय ने अपनी कहानी—(How Much Land Does a Man Require?) के माध्यम से बताने का प्रयत्न करते हैं कि व्यक्ति असीम तृष्णा के पीछे भले ही पागल होकर अपने जीवन की बाजी लगा देता है किन्तु अन्त में उसके शव को दफनाने भर के लिये ही भू-भाग उसके उपयोग में आता है। किसी वस्तु के प्रति आसक्ति होने से उस वस्तु के विद्योह में दुख का अनुभव होता है परन्तु आसक्ति नहीं होने पर दुःख नहीं होता है। यह भ्रान्त धारणा है कि सुख बाहरी वस्तुओं में है। मनुष्य की आसक्ति और आकांक्षा जिस वस्तु के लिये संग्रह ही होती है, उसको पाने के लिये चिता, बैचनी आदि होती है किन्तु जैसे ही वह उसे प्राप्त कर लेता है, तत्काल उससे भिन्न अन्य वस्तु पाने की इच्छा हो जाती है। इस प्रकार इच्छाओं का क्रम चलता रहता है। प्रत्येक प्राणी की आशा (इच्छा) का गड्ढा इतना बड़ा होता है कि उसको भरने के लिये सारे संसार के समस्त पदार्थ भी

१. Handerson, C., to "Learning to Live Frugally", Span, New Delhi, July, 1979, p.15.

थोड़े होते हैं—“आशागर्तः प्रतिप्राणे यत्र विश्वपणूपमम् ।” शेक्सपियर ने ठीक ही कहा है कि “इस संसार में सबसे बड़ा भ्रम यह है कि पैसा ही हमें सुखी बना सकता है। स्वर्ण तो मनुष्य की आत्मा के लिये सबसे गहित विष है।” दुर्योधन ने भी अपने मामा शकुनि से कहा था कि “सोना अग्नि के समान चमकदार तो होता है परन्तु अग्नि से भी अधिक जलन पैदा करता है, क्योंकि अग्नि तो छूने पर ही जलाती है जबकि युधिष्ठिर के पास भेंट में प्राप्त सोने को देखकर मुझे जलन पैदा होती है।”

सच्चे सुख का स्रोत आत्मा के भीतर है—संतोष में है, अपरिग्रह में है—“जब आवे संतोष धन, सब धन भूरि समान ।” असल में आसक्ति और अपरिग्रह हमें बंधन में डालता है। आसक्ति की जननी ही मोह या मूर्च्छा है।¹ बाह्य परिग्रह मानसिक परिग्रह (आसक्ति) से संभव नहीं है। फिर परिग्रह हिंसा को जन्म देता है। भगवान महावीर ने अपरिग्रह व्रत पर इस-लिये विशेष बल दिया कि वे जानते थे कि आर्थिक विषमता और आवश्यक वस्तुओं का अनुचित संग्रह सामाजिक जीवन को विघटित कर देने वाला है। धन का सीमांकन स्वस्थ समाज-निर्माण के लिये अनिवार्य है। धन सामाजिक व्यवस्था का आधार होता है और उसके कुछ हाथों में सीमित होने से समभाव का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। जीवनोपयोगी वस्तुओं के संग्रह से समाज में अभाव की स्थिति पैदा करता है। पूंजीवाद का यही अन्तर्विरोध है। साम्राज्य लिप्सा की भावना के पीछे भी परिग्रह की भावना है।

यह दुर्भाग्य है कि आज जब मानवता का लगभग तृतीयांश भाग भूख एवं अभाव से त्रस्त है, वहां दूसरी ओर वैभव और विलास का प्रगल्भ प्रदर्शन होता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में अन्नादि के दाम नहीं गिरे, इसके लिये करोड़ों मन अन्न नष्ट कर दिये जाते हैं। दूध के दाम नहीं गिरे, इसके लिये लाखों गायें काट दी जाती हैं। यह सब सांस्कृतिक विकृति है जिसके कारण विश्व शांति और विश्व भ्रातृत्व को खतरा होता है।

इसलिये अपरिग्रह का विचार और आचार केवल परमार्थ-साधना का विषय नहीं, यह तो व्यक्तिगत जीवन के सच्चे सुख एवं स्वस्थ समाज-संरचना के लिये आवश्यक है। पूंजीवाद व्यक्तिगत परिग्रहवाद है तो साम्यवाद भी राज्य का परिग्रहवाद है। हमें इन दोनों से परे किसी स्वस्थ सामाजिक संरचना के विषय के सोचना चाहिये। मेरी विनम्र राय में गांधीजी का ट्रस्टीशिप का विचार हमें एक दिशा निर्देश दे सकता है जहां व्यक्तिगत स्वामित्व एवं राज्य के स्वामित्व दोनों का निराकरण किया जाता है। साथ-

१. Amrtchandra, Purusartha Siddhupayaya, Bombay, Raichandra Jain Mala, p.111.

साथ ट्रस्टीशिप की भावना और योजना समाज-कल्याण के लिये ही है। असंतोष और अधिकार लिप्सा वैयक्तिक जीवन की अशांति के व्यक्त निदान हैं। भोग और लोभ की अदम्य कामना विश्व के समस्त पदार्थों को जीवन यज्ञ के लिये हविष्य बना रही है। सामाजिक जीवन में यह व्यक्त है। यह दुर्भाग्य है कि बीसवीं सदी में जो देश जितना शक्तिशाली, धनवान और शिक्षित है, वह उतना ही अधिक शोषण, उत्पीड़न और संग्रह करने पर तुला हुआ है। उसी स्थिति में विश्व शांति पर खतरा बढ़ता ही जा रहा है। अतः अपरिग्रह विश्व शान्ति का रक्षा कवच एवं समाजवाद का स्थायी आधार-तत्त्व है।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं एवं आचारो

जागतिक समस्याओं के चिंतन का स्वरूप एवं उसकी अनिवार्यता

आज विज्ञान ने हमें जाति, धर्म और राष्ट्र की सीमाओं से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर चिंतन करने के लिये बाध्य कर दिया है क्योंकि इसी पर हमारा अस्तित्व और भविष्य निर्भर करता है। जागतिक चिंतन के लिये। जैसा पाल वेलरी ने कहा है, हमें किसी तंत्र से प्रतिबद्ध होने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो उन्मुक्त होकर जिज्ञासा करनी चाहिए एवं साहस पूर्वक यह कहना चाहिये कि प्रश्न परिप्रश्न के परे कुछ नहीं है।^१ प्रसिद्ध दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक सी० जी० युग ने भी हमें सावधान करते हुए कहा है कि हम सभी एक ही प्रकार के पूर्वाग्रहों एवं पूर्व मान्यताओं से बन्धे हुए हैं। इसलिये जो वर्तमान के प्रति पूर्ण निष्ठावान है और अतीत के आग्रहों से मुक्त है, वही आधुनिक विश्व की समस्याओं के सम्बन्ध में चिंतन का अवदान दे सकता है। किन्तु ऐसा वही करेगा जिसकी चेतना अधिकाधिक व्यापक एवं गहन होगी। इसी को हेडाइगर—(Heidgger) ने तात्त्विक या वास्तविक चिंतन (Essential thinking) एवं कृष्णामूर्ति (J. Krishnamurti) ने समग्र-दृष्टि (Total seeing) कहा है। महानाश के कगार पर उपस्थित हमारा अस्तित्व ही सम्यक्-चिंतन और सम्यक्-जीवन पर निर्भर है।^३ कार्ल जास्पर्स (Karl Jasper) ने ठीक ही कहा है कि आज हमें अणु-वम के प्रलयकारी खतरों की चुनौतियों का सामना करने के लिये उपयुक्त एवं समर्थ एक नवीन राजनीति की अपेक्षा है। “फ्रायड”^४ के विचारों में यह अशांति उद्दिग्गता और दुःख मानव ने इसलिये पाया है कि उसने प्राकृतिक शक्तियों पर नियन्त्रण किया और आज वह मानव जाति के उच्छेद के लिये तैयार है।

इन्हीं कारणों से आज चाहे धर्म का क्षेत्र हो अथवा राजनीति का, साहित्य का हो या संस्कृति का, जागतिक चिंतन की प्रसव वेदना सुस्पष्ट है। विचार के धरातल पर व्यक्तिगत धर्म (Personal Religion) के बदले

१. रेप्लेवशण्स आन द वर्ल्ड टूडे, (अनु) एफ स्कार्फ, लंदन, १९५१, पृ० ७
२. साइक्लोजीवल रेप्लेकशन्स, (सम्पा०) जै० जैको बी, न्यूयार्क, १९५३
३. द फ्यूचर आफ मेनकाइड, (अनु०) ई० बी० एशटन, शिकागो, १९६१
४. सिविलाइजेशन्स एण्ड इट्स डिसकटेन्ट, एल० फ्रायड, न्यूयार्क, १९६२

विश्व धर्म (Universal Religion) साम्प्रदायिक धर्म (Communal Religion) के बदले मानव धर्म (Religion of Man) या नीति-धर्म (Ethical Religion) की आकांक्षा प्रबल हो रही है किन्तु यह विरोधाभास है कि व्यवहार में धार्मिक कट्टरतावाद एवं धार्मिक मूल प्रमाणवाद (Religions Funda-mentalism) का जोर बढ़ा है। राजनीति के क्षेत्र में आज राष्ट्रीय संप्रभुता के सिद्धांत के बदले "विश्व-सरकार" एवं "एक विश्व" (One world) की बातें खूब चल रही हैं। साम्यवाद हो या शांतिवाद, सब सार्वभौम होना चाहता है किन्तु व्यवहार में संकीर्ण और उग्र राष्ट्रवाद का दर्शन हो रहा है। अखंड अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार रखने वाला साम्यवाद स्वयं भ्रातृयुद्ध का शिकार हो गया है। उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में आज "विश्व-अर्थव्यवस्था" (World Economic Order) अनिवार्य माना जाने लगा है किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में एक रूप से राष्ट्र का दूसरे द्वारा शोषण और भी अधिक संगठित एवं गंभीर हो रहा है। यही कारण है कि बीसवीं सदी का विश्व सम्पन्नता के मध्य अकिंचनता, ज्ञान-विज्ञान में महत्तर विकास के साथ-साथ अज्ञान और अशिक्षा के प्रभूत अंधकार का शिकार बन गया है। शायद हमारी खंडित सभ्यता की यही पहचान है।

प्रथम विश्वयुद्ध के मात्र २०-२१ वर्षों के बाद द्वितीय विश्वयुद्ध की विनाश लीला प्रारम्भ हो गयी जिसकी क्षणिक अत्यन्त निष्ठुर पूर्णाहुति हिरोशिमा-नागाशाकी के रोमांचकारी नरसंहार से हुई और अणुबम निर्माण की अदम्य पिपासा जितनी ही सार्वभौम होती जा रही है, मानव सभ्यता के अस्तित्वनाश की संभावना उतनी ही बढ़ती जा रही है। इसलिये निःशस्त्रीकरण की अंतहीन वार्त्ता में अपने को फंसा कर समस्या के समाधान की ओर बढ़ने का मिथ्या आत्म-तोष हम प्राप्त कर लेते हैं। असल में हम रोग के लक्षण को ही उसका कारण समझ लेते हैं और वास्तविक कारण ढूँढने का प्रयास नहीं करते। राजनीतिक समाधान कूटनीति के कृत्रिम धरातल पर होने के कारण न केवल अयथार्थ हो जाता है बल्कि उसमें विरोधाभास भी बहुत अधिक रहता है। राजनेता-समस्याओं के तात्कालिक एवं सतही समाधान की सीमाओं को लांघ कर विश्व की आधारभूत एवं क्रांतिकारी पुनर्रचना की ओर अग्रसर होने का साहस नहीं कर सकते।

यह भी हमारा एक अंधविश्वास है कि हिंसा केवल अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग, हत्या और रक्तपात में ही निहित है। हिंसा की जड़ें तो हमारी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था में निहित हैं। संक्षेप में सिद्धान्तहीन राजनीति, संकीर्ण राष्ट्रवाद, मिथ्याविली अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति, शोषण एवं मुनाफा केन्द्रित अर्थनीति विषमता मूलक समाज-रचना, हिंसा-प्रवण शिक्षा नीति ये सब हिंसा की जननी हैं। अतः मूल समस्या है कि जब तक

अहिंसा के आधार पर मानव-संबंधों और मानव-संगठनों को स्थापित नहीं किया जायगा तब तक हिंसा की जड़े समाप्त नहीं होंगी। व्यक्ति ही मानव-समाज की इकाई है। यह उसी के मस्तिष्क की चाल है कि वह हिंसक समाज-व्यवस्था का निर्माण करता है। इसलिये अहिंसक-समाज-व्यवस्था के निर्माण के लिये यह आवश्यक है, अहिंसक मानव-मस्तिष्क का निर्माण हो।

२. समस्या का मूलाधार :—

“आयारो” वास्तव में “आत्म-जिज्ञासा” से आरंभ होता है, जो दूसरे शब्दों में या “मानव-जिज्ञासा” का पर्याय है। आत्म-जिज्ञासा ही आचार-शास्त्र का आधारभूत तत्त्व है। भगवान महावीर ने जिस अहिंसात्मक समाज रचना का स्वप्न देखा एवं जिस अहिंसक जीवन-शैली का निरूपण किया, उसकी आधार आत्मा है। आत्मा के स्पष्ट रूप का बोध होने पर ही अहिंसा-त्मक आचार नीति में आस्था हो सकती है। इसलिये “आचारांग” के आरंभ में ही “आत्मा का अस्तित्व” स्थापित किया गया है। “मैं कौन हूँ” (कोऽहम्) यदि आत्म-जिज्ञासा का सूचक है तो “मैं वह (आत्मा) हूँ” (सोऽहम्) यह उसका समाधान है। प्रथम पद में अपने अस्तित्व की जिज्ञासा है और दूसरे पद में उसका प्रत्यक्ष बोध है।^१ अनात्मवादी भी “आत्मा” को भले नहीं स्वीकार करें, किंतु आत्मरूप चेतना से इनकार नहीं करते। चेतन की क्रिया प्रत्यक्ष है, अतः उसकी अस्वीकृति से भी प्रकारान्तर से उसके अस्तित्व की स्वीकृति हो जाती है। ‘हां, उसके त्रैकालिक अस्तित्व के विषय में मतभेद रहा है। जो भी हो, आज की मूल समस्या है—आत्मा को जानना; चाहे वह ज्ञान-चेतना हो या अनुभव-चेतना। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं मनो-वैज्ञानिक सी० जी० युग ने भी—“आत्मानुसंधान की दिशा में आधुनिक मानव” (Modern Man in Search of a Soul) की अवधारणा पुष्ट की है। मानव ही जागतिक समस्याओं का केन्द्र है, वही समाज की इकाई है। यदि उसके मानस का परिष्कार हो जाय तो समस्यायें ही नहीं उठेंगी। हिंसा या अहिंसा दोनों का ही अधिष्ठान मानव-मस्तिष्क और उसकी चेतना है। यूनेस्को के घोषणा पत्र में ठीक ही कहा गया है कि यदि युद्ध में व्यूहरचना एवं योजना मानव-मस्तिष्क से ही होती है अतः शांति की प्रतिरक्षा का निर्माण भी मानव-मन से ही होगा।

लेकिन हमारा दुर्भाग्य है कि हम मानव और मानव की चेतना को पूरी तरह समझने का प्रयास नहीं करते कि (क) मानव कहां से आया है ?

१. आयारो, १/१

२. वही, १/४

(ख) मानव का गन्तव्य क्या है ? (ग) मानव का अतीत क्या होगा ? (घ) उसका भविष्य क्या होगा ? “मैं आत्मा हूँ” यह अतीत और वर्तमान का संकलनात्मक ज्ञान है। शरीर अहंकार शून्य है। उसमें जो अहंकार है, जैसे—“मैं करता हूँ” “मैंने किया” और “मैं करूंगा”, वही आत्मा (चितन) का लक्षण है।

आत्मा अपने स्वरूप में अमूर्त है। वह इंद्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है, वह शरीर के माध्यम से ही जाना जाता है। जैसे आत्मा का अस्तित्व है, वैसे लोक का अस्तित्व है। अतः आत्मा और लोक, दोनों पारमार्थिक सत्ताएं हैं। शरीर-तंत्र कर्म से संचालित होता है। कर्म-तंत्र क्रिया से संचालित होता है। अतः इस संसार की विविधता का मूल हेतु क्रिया है। जीव में जब तक प्रकंपन, स्पन्दन, क्षोभ और विविध भावों का परिणमन होता है, तब तक वह कर्म-परमाणुओं से बन्धता रहता है। जब वह कर्म-परमाणुओं से बद्ध होता है, तब तक वह नाना योनियों में अनुसंचरण करता है। इस लोक में अपनी आत्मा जैसी अनेक आत्माएं हैं और पुद्गल द्रव्य भी हैं। अन्य आत्माओं के प्रति अपने व्यवहार का संयम करना अहिंसा का मूलाधार है। इस तरह अहिंसा के मुख्य चार आधार हैं—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, और क्रियावाद।^१

अहिंसा के दो स्वरूप हैं—सूक्ष्म और बाह्य। प्रवृत्ति का मुख्य स्त्रोत अन्तःकरण है। वह प्रज्ञा से संचालित होता है। उसके नियामक तत्त्व दो हैं—मोह और निर्मोह। मोह से नियंत्रित प्रज्ञा असत्य होती है, निर्मोह से सत्य। जिसकी प्रज्ञा सत्य होती है, वह शरीर वाणी और भाव से ऋजु तथा कथनी और करनी में समान होता है। इस प्रकार सत्य प्रज्ञा से संचालित अन्तःकरण ही हिंसा और विषय से विरक्त हो सकता है। कोई भी साधक केवल बाह्याचार से हिंसा और विषय से विरक्त नहीं हो सकता। पूर्ण सत्य प्रज्ञा युक्त अन्तःकरण से ही वह उनसे विरक्त हो सकता है।^२

इस दृष्टि से विचार करें तो यह लगेगा कि जब तक अन्तर में अहिंसा प्रतिष्ठित नहीं करेंगे तब तक जागतिक हिंसा का निराकरण असंभव है। युद्ध की योजनायें मानव-मस्तिष्क में ही बनती हैं अतः शांति की प्रतिरक्षा भी भी मानव मन से तैयार होंगी। आत्मा का सच्चा ज्ञान ही हिंसा से हमें विरक्त कर सकता है। “आयारो” ने इसलिये हिंसा-विवेक^३ पर गंभीर चिंतन किया

१. आयारो १/५

२. वही, १/१७५

३. वही, १/३१-३४, ५४-६२, ८५-८९, ११४-११७, १७६-१७७, २.४६

है, एवं अहिंसा की सूक्ष्मतम विवेचना की है।^१

लेकिन “आयारो” अहिंसा-सिद्धांत को केवल व्यक्तिगत आचार तक ही सीमित नहीं करता, उसे वह सामाजिक-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करता है। युद्ध, शस्त्रीकरण या सिद्धांतहीन राजनीति कोई अलग-अलग तत्त्व नहीं है, इन सबों के मूल में हिंसा है। आज शस्त्र की शक्ति और व्यवहार में प्रवंचना का इतना बाहुल्य हो गया है कि सामाजिक जीवन में हिंसा इसका अवश्यम्भावी परिणाम है। यदि हिंसा मात्र व्यक्तिगत आचार रहता है तो “अपरिग्रह”^२ पर आयारो” का इतना जोर नहीं रहता। आयारो के अनुसार “जिसके पास परिग्रह नहीं हैं, उसी मुनि ने पथ को देखा है”^३ अपरिग्रह अहिंसा का सामाजिक पहलू है। भूमि और घर में ममत्व रखने वाले कुछ (अविद्यावान्) पुरुषों को समृद्धि से पूर्ण जीवन प्रिय होता है।^४ आयारो ने परिग्रह को पाप कर्म (पावकम्म)^५ बताया है। ममत्व-विसर्जन को ही विवेक^६ और कर्म की उपशांति^७ बताया गया है। परिग्रह का अर्थ ही मूर्च्छा^८ या संसार के प्रति आसक्ति। जिन्हें काम भोगों के प्रति आसक्ति होगी, परिग्रह के वे शिकार होंगे ही और जहां परिग्रह है, वहीं हिंसा का जन्म होगा। अपरिग्रह को यदि हम गहराई से समझें तो परिग्रह अर्थासक्ति है एवं संयम हीनता है। जहां आसक्ति है, वहीं मूर्च्छा है, वहीं परिग्रह है और जहां परिग्रह है, वहीं हिंसा है। परिग्रही मनुष्य, अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल सच्चित् या अचित् वस्तु का परिग्रहण करते हैं। वे इन वस्तुओं में मूर्च्छा रखने के कारण ही परिग्रही हैं।^९ आसक्ति अनेकों तरह की होती है देहासक्ति, कामसक्ति, अर्थासक्ति प्रभुत्वासक्ति आदि। असल में जो विषय है, वह संसार है और जो संसार है, वह विषय है।^{१०} विषयार्थी पुरुष महान् परिताप से प्रमत्त होकर वास करता है। “मेरी माता” “मेरा पिता” “मेरा स्वजन” “मेरा सहवासी”, “मेरे प्रचुर उपकरण”, भोजन, वस्त्र आदि में आसक्त पुरुष

१. वही, ४/१-११, १२-२६, ५/९९-१०३, ८/१७-२०
२. वही, ५/३१-३८, ८/३२-३३, १/५७-७४, १४८-१८६
३. वही, २/१५७
४. वही, २/५७
५. वही, २/१४९
६. वही, २/१५४
७. वही, २२/१५५
८. वही, ५/३१, ५/३९
९. वही, ५/३१.
१०. वही, २/१

प्रमत्त होकर उनके साथ वास करता है।^१ अनासक्ति लोक विजय का मार्ग है।^२ और कुशल पुरुषों को इसमें लिप्त नहीं होने की सलाह है।^३ आज जब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की ओर हम निहारते हैं तो यह “मैं” और “मेरा” के प्रति आसक्ति ही विग्रह के मूल कारण प्रतीत होते हैं। अपनी जाति, सम्प्रदाय, नस्ल एवं राष्ट्र के प्रति आसक्ति ही विग्रह के कारण हैं। लेकिन अनासक्ति एक दिन में नहीं आ सकती हमें अनासक्ति के लिए आहार की अनासक्ति^४ और कर्म की अनासक्ति^५ का अभ्यास करना होगा। काम दुर्लभ्य है। आसक्त पुरुष उत्तरोत्तर कामों के पीछे चक्कर लगा रहा है।^६ इसके विपरीत अनासक्त पुरुष अरति को सहन नहीं करता।^७ वह शब्द, रूप, गंध और स्पर्श को सहन करता है, उनके प्रति राग-द्वेष पूर्ण मन का निर्माण नहीं करता है। भगवान महावीर की साधना के मुख्य चार अंग थे—इसमें अप्रमाद अहिंसा, अपरिग्रह और अनासक्ति एवं अप्रमाद मौलिक आधार हैं—यानी निरंतर जागते रहना। अप्रमाद का प्रथमसूत्र है—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं^८ आत्मा से आत्मा को देखो। आत्म-दर्शन का अर्थ ही है, अनन्य दर्शन।^९ वासना और कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) ये आत्मा से अलग (अन्य) हैं, अतः आत्मा को अनन्य रूप से ही जानना सम्यक् ज्ञान है, इसको देखना ही सम्यग्-दर्शन है, इसमें रमण करना ही सम्यक्चारित्र है। अप्रमाद का दूसरा सूत्र है, वर्तमान में जीना। जो अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना में खोया रहता है, वह वर्तमान में नहीं रह सकता। इसका अर्थ हुआ कि जो व्यक्ति एक क्रिया करता है किंतु जब उसका मन दूसरी क्रिया में दौड़ता है, तब वह वर्तमान के प्रति जागरूक नहीं रह पाता है। अतः जो आत्मा के स्वरूप को जानता है, वह प्रमाद नहीं करता है।^{१०} वह बाह्य जगत् को अपनी आत्मा के समान देखता है।^{११} जहां तदात्म्य है, वहां द्रोह संभव ही

१. वही, २/२-३
२. वही, २/४६
३. वही, २/४८
४. वही, २/१०४-११२
५. कही, २/१२१
६. वही, २/१२६
७. वही, २/१६०, २/१६१
८. दशवैकालिक चूलिका, २/११
९. आयारो, २/१७३
१०. वही, ३/५१
११. वही, ३/५२

नहीं है ।

आज विश्व की दो प्रमुख समस्याओं में महाशक्तियों के बीच बढ़ते हुए संघर्ष और विकसित एवं विकासशील देशों के बीच बढ़ती हुई विषमता को ही यदि हम मान लें तो इसका निराकरण अहिंसा और अपरिग्रह के आचरण से ही संभव है । “आयारो” मुख्य रूप से आचार शास्त्र है । भगवान महावीर ने आचार का निरूपण व्यापक अर्थ में किया है । उनके अनुसार आचार के पांच प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्य इस निरूपण के अनुसार आचार ज्ञान, दर्शन और चरित्र सबको स्पर्श करता है । भगवान् महावीर के आचार दर्शन का आधार समता है । इसलिये समत्वदर्शी पाप नहीं करता ।⁹ वास्तव में राग-द्वेष रहित कर्म ही आचार है । भगवान् महावीर ने वीरता मूलक आचार का अपने प्रवचन एवं जीवन दोनों में प्रतिपादन किया है । वस्तुतः वे समता के शास्ता थे । उन्होंने समता के शासन द्वारा जीवन के रूपान्तरण की दिशा दी है ।

अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में यदि हम विचार करें तो राजनैतिक क्षेत्र में प्रभुत्व-विस्तार और आर्थिक क्षेत्र में दूसरे के शोषण की कीमत पर अपने अर्थतंत्र का प्रसार जागतिक समस्या की जड़ में है । शस्त्रीकरण तो लक्ष्य है, मूलकारण तो उपर्युक्त ही है । उनके निराकरण के लिये हमें आज शांति या समाजवाद के प्रवचन की आवश्यकता नहीं बल्कि अहिंसा और अपरिग्रह के आचरण की आवश्यकता है । जागतिक संकट मूलतः आचरण का संकट है हम सभी जानते हैं कि शस्त्रीकरण या हिंसा मानव द्रोह है, फिर भी उसे आचरण में नहीं ला पाते । हम सभी समझते हैं कि किसी का शोषण करना गलत है, फिर भी आचरण में शोषण आता है । रामायणकाल में जो समस्या रावण की थी, महाभारत काल में दुर्योधन की थी, वही समस्या आज जागतिक क्षेत्र में अमरीका के राष्ट्रपति या रूस के राष्ट्रपति की ही नहीं सबों की है । हम अच्छी तरह जानते हैं कि क्या अच्छा है, लेकिन उसका आचरण नहीं करते और जानते हैं कि क्या खराब है, उससे अपने को वंचित नहीं करते । आचारांग विचार एवं आचार के इसी द्वैत को मिटाने का एक प्रयास है ।

मानव समाज एवं अहिंसा

१. प्रश्न, परिप्रश्न और बोध :—

बिहार की पदयात्रा में जब मैंने आचार्य विनोबा से यह प्रश्न किया कि “क्या मानव समाज का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है ?” तो उन्होंने इसके उत्तर में मुझसे ही पूछा, “क्या मानव समाज का संगठन हिंसा के आधार पर भी संभव है ?” फिर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा “आपका मूल प्रश्न ही वास्तव में उलटा है। यदि आप ऐसा प्रश्न करते कि “क्या बाघ, सिंह, भेड़िये अदि हिंस्र पशुओं का संगठन अहिंसा के आधार पर संभव है तो बहस की भी गुंजाइश थी।” इसका अर्थ यह हुआ कि विनोबा सदृश विचारक मनुष्य को स्वभाव से साधु मान बैठे हैं। लेकिन “मनुष्य स्वभाव से साधु है”—यह एक आदर्श वाक्य भी हो सकता है और यथार्थ वाक्य भी। जो भी हो, मानव-स्वभाव का प्रश्न मानव-शास्त्र का मूल प्रश्न तो है ही, प्रस्तुत विषय का भी आधार-प्रश्न है। मानव-स्वभाव की हमारी कल्पना या धारणा हमारे जीवन दर्शन को प्रभावित करती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब यहूदी विचारधारा ने मानव को ईश्वर की प्रतिमा मान लिया तो उससे केवल यहूदी जीवन-दर्शन ही प्रभावित नहीं हुआ बल्कि यहूदी दर्शन से प्रभावित ईसाई एवं बहुत हद तक इस्लामी मतवाद भी प्रभावित हुए थे। इसी प्रकार आत्म-तत्त्व की कल्पना ने भारतीय-दर्शन को एक नयी मोड़ ही दे दी है। उसी तरह मानव-स्वभाव के प्रति नैतिक एवं सामाजिक आग्रह से चीन के ताओ और बौद्ध धर्म को एक नयी वास्तविकता मिली है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मानव-स्वभाव का प्रश्न केवल समाज-दर्शन का ही प्राण-तत्त्व नहीं है, यह सम्पूर्ण दर्शन का भी आधार तत्त्व है। दर्शन का वास्तविक अर्थ जीवन-दर्शन ही माना जाना चाहिए और जीवन-दर्शन का मेरुदंड मानव-प्रकृति का अध्ययन है। दर्शन के समस्त श्रृंगार मानव केन्द्रित होंगे सत्य एवं मूल्य भी मानव के सन्दर्भ में ही सार्थक होंगे।

२. मानव स्वभाव : प्रश्न का प्राणतत्त्व :—

दुर्भाग्य से “मानव-स्वभाव” के विषय में हम प्रायः सभी विराट् दार्शनिक परम्पराओं में तटस्थ वैज्ञानिक वृत्ति से किये गये विश्लेषण का [नितान्त अभाव ही पाते हैं। इस सम्बन्ध में दार्शनिकों की दृष्टि मुख्यतः आदर्शमूलक और आध्यात्मिक रही है। विभिन्न दर्शनों की विभिन्न परम्परायें

हैं। यूनानी दर्शन का प्रयोजन मनुष्य को बुद्धिमान बनाना था जबकि चीनी परम्परा मानव को नीतिमान बनाने पर जोर देती है। भारतीय परम्परा में दर्शन का एक विशेष प्रयोजन रहा है, वह है जीव और ब्रह्म का साक्षात्कार, जिसे मोक्ष भी कहा जाता है। यहूदी विचारक मानव को यह अवगत कराना चाहते हैं कि ईश्वर भी मानव-कल्याण में अभिरुचि रखता है। इसलिये जहां यूनानी दर्शन में आदर्श मानव को विद्यानुरागी, चीनी परम्परा में आचारवान् साधु, भारतीय दृष्टि में आत्मतत्त्व माना गया है वहां यहूदी विचारकों ने आदर्श मानव को भगवान की प्रतिमा स्वीकार कर उसके जीवन में आदर्श सद्गुणों का समावेश किया है। लेकिन आदर्श मानव चाहे जैसा भी कल्पित किया गया हो, यथार्थ-मानव के वास्तविक स्वरूप का अध्ययन परमावश्यक है। नीति शास्त्र का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बिना किसी दैवी या ईश्वरीय गुणों का आरोप किये भी मानव-प्रकृति के आधार पर आचार-शास्त्र का निर्माण किया गया है। मानव-स्वभाव का स्थूल अर्थ है उसका मनोदैहिक स्वरूप। सोफिस्टों एवं कुछ अंश में सुकरात को छोड़ कर यूनानी विचारक प्रायः मानव के इस मनोदैहिक स्वरूप का निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन करने के बदले एक नवीन जीवन-दर्शन के विकास की प्रक्रिया में संलग्न थे। किन्तु, चूंकि मानव समाज में रहता है, और यह मानव-समाज भी तो विराट् विश्व का ही अंशमात्र है, इसलिये जगत् को समझने के अन्वेषण क्रम में ही मानव-प्रकृति का भी अध्ययन हुआ। अतः मानव-स्वभाव की कोई स्वतन्त्र चर्चा अपेक्षित नहीं समझी गयी। यहूदी विचारकों ने मानव को विश्व की विशालता में विलीन तो नहीं किया किन्तु उसे ईश्वर-अंश मानकर उसके मनोदैहिक पक्ष के अध्ययन के साथ उसी प्रकार अन्याय किया। चीनी चिन्तनधारा में प्राक्—कन्फ्यूशियस विचारकों ने मानव को देव अंश मानकर उसमें देवत्व का आरोप करते हुए उसके स्वभाव को नैतिक उद्धोषित किया किन्तु महात्मा कन्फ्यूशियस की यथार्थवादिता ने मानव-प्रकृति में सामाजिक-तत्त्व का आरोप करते हुए व्यवहार में उसे आत्म-केन्द्रित एवं व्यक्तिवादी बनाया। भारतीय परम्परा में उपनिषद्-तत्त्वज्ञान ने पंचकोष के अनुसार मानव-प्रकृति के आध्यात्मिक-मनोदैहिक पक्ष की ओर संकेत किया है। किन्तु बौद्ध विचारकों ने पंच-स्कन्ध के आधार पर कुछ दूसरी ही कल्पना की है। मीमांसा-दर्शन के अनुसार मानव-स्वभाव का सार कर्म है। (कर्ममयं पुरुषः)। संक्षेप में, उपनिषद्, सांख्य, योग एवं वेदान्त के अनुसार मानव आध्यात्मिक-मनोदैहिक तत्त्व है जबकि न्याय-वैशेषिक-मीमांसा के अनुसार मानव को मूलतः केवल मनोदैहिक तत्त्व ही माना गया है, क्योंकि आत्मा में पूर्ण अज्ञान एवं अचेतना ही है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय चिन्तनधारा में मूलतः मानव को आत्म-तत्त्व माना गया है चाहे आत्म-तत्त्व के स्वरूप के

विषय में भले ही विभिन्न विचार क्यों न हों। इसी तरह दार्शनिक जिज्ञासा का पर्यवसान धार्मिक जीवन-दर्शन में होता है।

आध्यात्मिक विचारक प्रायः मानव को स्वभाव से दोष-मुक्त मानते हैं, क्योंकि जीवात्मा परमात्मा से या तो अभिन्न है, जैसा वेदान्त या उपनिषद् में माना गया है, या फिर जीवात्मा को परमात्मा का ही एक अंश मान लिया गया है।

यदि हम सामान्य दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो सत्कार्यवाद का आलम्बन लेकर हम कह सकते हैं कि यदि मानव-स्वभाव में अच्छाइयाँ अन्तर्निहित नहीं हैं तो फिर अच्छाइयों का स्वप्न देखना ही व्यर्थ है। Ex nihil nihil fit न सते विद्यते भावो न भावे विद्यते सतः। यदि मानव को स्वभाव से ही दुष्ट मान लिया जाय तो उसके शिक्षण एवं परिष्करण की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही व्यर्थ सिद्ध होगी। यहीं हम मनोविज्ञान का सहारा लेकर मैकडूगल के आत्मरक्षात्मक मूल्य प्रवृत्ति के सिद्धान्त की चर्चा के क्रम में यह कह सकते हैं कि चूँकि कलह, पृथक्कत्व संग्रह आदि की मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात हैं इसलिये मानव की जन्मजात साधुता प्रमाणित नहीं होती। लेकिन जहाँ इस जीर्ण-शीर्ण मनोविज्ञान के मूल-प्रवृत्ति के सिद्धांत के अनुसार हम मनुष्य में जन्मजात कलह-वृत्ति का आरोप करते हैं वहाँ शायद हम संघात्मक-मूल्य-प्रवृत्ति, दाम्पत्य मिलन, शिशु—रक्षण, आत्म-दमन आदि की मानव वृत्तियों को भूल जाते हैं। आज तो मनोविज्ञान की फ्रायडोत्तर भूमिका में मानव-स्वभाव को दुष्ट मानने का भी कोई आग्रह नहीं है। नव-फ्रायडवादी मनो-वैज्ञानिक मनोविश्लेषण को जीवशास्त्र की भूमिका पर पुनर्गठन करने के लिये चिन्तित हैं।

एडलर की “जीवन शैली” एवं युग के जातीय अचेतन के अन्तर्गत आत्म-रक्षण एवं ‘काम वृत्ति’ के बदले मनोविश्लेषण जगत् आज मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक वृत्तियों में अपना समाधान ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। इसीलिये तो डार्विन के जिस विकासवाद अन्तर्गत “अस्तित्व-संघर्ष” से आविर्भूत “योग्यतम की रक्षा” आदि की दुहाई देकर मानव-स्वभाव को दुष्ट प्रमाणित किया जाता है उसी डार्विन ने नीति-बल को शरीर-बल एवं बुद्धि बल दोनों से ही श्रेष्ठ माना है। उदाहरण देते हुए उसने कहा है कि जो जातियाँ अनीतिवान् थीं वे आज नामशेष हो गयी हैं। सोडम एव गमोरा का आज नामनिशां नहीं। जो यूनान कमी पौरुष के बुद्धि वैभव का सम्राट था जब उसने नीति का परित्याग किया तो उसकी बुद्धि ही उसका दुश्मन हो गयी। यह ठीक है कि हिराक्लिटस, हीगल, डार्विन, मार्क्स आदि विचारकों ने संघर्ष को ही विकास की हरकत माना है, लेकिन जिस मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का एक समग्र जीवन-दर्शन रखते हुए द्रष्टा को विचार-विकास का ही

नहीं अपितु प्राथमिक-विकास का भी सूत्र माना उसको भी शायद मानव के अन्तर्निहित संभाव्य सदगुणों में अटूट विश्वास था। मार्क्स ने शायद ईश्वर को भी इसलिये अस्वीकार किया कि उसे यह विश्वास था कि यदि परिस्थितियाँ अनुकूल बना दी जाएँ तो इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। यदि उसे मनुष्य की अन्तर्निहित दिव्यता में विश्वास नहीं रहता हो, फिर उसके परिष्कार के सारे क्रांतिकारी प्रयास सैद्धान्तिक रूप से निरर्थक होंगे ही, व्यावहारिक रूप से भी असफल होंगे। इसीलिये या तो हमें यह स्वीकार कर लेना होगा कि यदि मनुष्य स्वभाव से दुष्ट है तो फिर कोई भी वैचारिक क्रांति संभव नहीं।

स्वभाव तो वह होता है जो नित्य और निरपवाद होता है, जिसका निराकरण नहीं हो सकता। यदि मनुष्य स्वभाव से दुष्ट होता तो उसका निराकरण भी नहीं होता। अतः यदि हम मार्क्स के अनुसार वर्ग-संघर्ष के आधार पर मनुष्य-स्वभाव में संघर्ष को एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया भी स्वीकार कर लें तो प्रश्न उठता है कि फिर मार्क्स स्वयं इस संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहते हैं? आज समाज के अन्दर चोरी, बटमारी, लड़ाई, दंगे, हत्याएं आदि जन्म होती हैं तो हमारा प्रयास उनका निराकरण करने का होता है। यदि यही हमारा स्वभाव होता तो हम इनके निराकरण का क्यों प्रयत्न करते? हम अपने सामान्य दैनिक अनुभव में भी यह देखते हैं कि हमें क्रूर कर्मों से स्वाभाविक रूप से कष्ट होता है। इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि हमारी सम्पूर्ण सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का मूलाधार मानव को स्वभाव से अच्छा मान लेने पर टिका हुआ है। राज्य शास्त्र के विकास क्रम में संसदीय-जनतन्त्र-प्रणाली की आधारशिला मानव-स्वभाव की साधुता के विश्वास पर ही टिकी हुई है। स्वस्थ जनतंत्र सामान्य मनुष्य के विवेक एवं सद्विचार पर तो आश्रित है ही साथ-साथ विरोधी-दलों की निष्ठा एवं आस्था में विश्वास भी इसका एक प्रमुख आधार स्तम्भ है। पुरातत्व विज्ञान के प्रागैतिहासिक ध्वंसावशेषों के अन्वेषणों से भी यह पता चला है कि उस समय भी सामाजिक जीवन था तथा उस समय आत्मरक्षा आदि के शस्त्रास्त्र नहीं थे। मानव-शरीर की रचना शाकाहारी प्राणियों जैसी ही है, इससे भी जीवन-निर्वाह के क्रम में प्रकट दुष्टता की संभावना अत्यल्प हो जाती है। यूनेस्को के तत्वाधान में मानव स्वभाव की खोजों के आधार पर प्रो. मांटैग्यू ने यह बताया है कि मानव जन्म से आक्रमण या अपहरण करने आदि के दुर्भाव लेकर जन्म नहीं लेता। जिस दुर्भाव को आज हम मानव-स्वभाव में आरोपित करते हैं वह वास्तविक अर्थ में उसका जन्मजात स्वभाव नहीं बल्कि वातावरण से अर्जित विभावमात्र (Acquired habit) है। इसीलिये तो विधिशास्त्र जैसे परिवर्तन विमुख स्थिति-स्थापक शास्त्र के अन्तर्गत

प्रायः सर्वसामान्य रूप से अपराधियों को दोषी मान लेने की अपेक्षा निर्दोष मान लिया जाता है, जिसे हम (Benefit of doubt) कहते हैं। यह कुछ और नहीं बल्कि मानव-स्वभाव की साधुता में आस्था की अभिव्यक्ति है। मानवीय संस्कृति के विकास का इतिहास, और विशेषकर मानवीय कल्याण के निमित्त विज्ञान का अनुपम योगदान मनुष्य के अन्तर्निहित सद्गुणों में विश्वास व्यक्त करता है। आचारशास्त्र की आधारशिला भी आत्म-स्वातंत्र्य के साथ-साथ व्यक्ति के विवेक पर ही स्थिर है। नैतिकता का निर्धारण करने वाली हमारी ऐच्छिक क्रियायें हमारी विवेकबुद्धि पर ही आश्रित हैं। धर्म शास्त्र की धारणा भी मानव-स्वभाव की आधारभूत साधुता पर ही टिकी हुई है। जीवन-दर्शन के दृष्टिक्रम में भी मनुष्य को स्वभावतः दुष्ट मान लेने में निखिल मानव जाति का अपमान तो है ही निराशावाद भी इसमें कमाल का है। इसीलिए यदि मानव-स्वभाव की दुष्टता की हम वस्तुस्थिति स्वीकार कर भी लें तो हमारा यह जीवन-सिद्धान्त या जीवन-दर्शन कदापि नहीं हो सकता।

३. मानव समाज : विकास एवं उपलब्धि :—

मानवीय आचार संहिता की प्रयोगशाला का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार शायद परार्थवाद ही माना जायगा। परार्थवाद के मूलाधार मानव-विवेक एवं मानव साम्य की भावना ही है। मानवीय—चिंतन की दिशा सदैव ही उसकी संकुचित परिधि से खींच कर बाहर ले जाने का उपक्रम करती रही है। यदि ऐसा नहीं हुआ रहता तो शायद साहित्य, संस्कृति, कला आदि का भी विकास कुंठित ही रहता, आध्यात्मिक चेतना तो मृतप्राय रहती ही। प्राकृतिक नियम एवं वस्तुस्थिति ने मानव पर प्रभाव तो बहुत ही डाला है किन्तु अन्त में यह मानवीय आकांक्षाओं के सम्मुख पराजित ही हुआ है। इसका मूल कारण यह है कि वस्तुस्थिति जीवन-सिद्धान्त नहीं बन सकती। वास्तव में वस्तुस्थिति की सिद्धान्त की ओर प्रगति ही संस्कृति है। दूसरे शब्दों में “दूसरे के जीवन में शामिल होना और दूसरे को अपने जीवन में शामिल करना ही संस्कृति है।” अतः संस्कृति जिन्दगी की यह साभेदारी, यह शिरकत यह तहजीब या कल्चर है। और यही तो परार्थवाद भी है इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय संस्कृति के विकास-क्रम में उत्तरोत्तर सौम्य से सौम्वतर या सुन्दर से सुन्दरतर की परार्थवादी प्रक्रिया ही परिलक्षित होती है। इसीलिए तो प्राणिशास्त्र के क्रान्तिकारी प्रवर्तक डार्विन ने यदि Survival of the fittest का प्राकृतिक-सिद्धान्त उपस्थित किया तो परवर्ती प्राणी-विज्ञान के अधिकारी जुलियन हक्सले ने fitting the unfit to survive (जो अक्षम है, उन्हें सक्षम बनाने) का विचार रखा। यानी हम Live up on

others “दूसरों को खाकर जीओ” की स्थिति से Live and Let live (जीओ और जीने दो) की अवस्था में आकर उसमें Live for others (दूसरों के लिये जिओ) की भव्य अवस्था में जाने को उद्यत हैं। वस्तुतः समाज व्यक्ति के केवल भौतिक अस्तित्व के लिये ही आवश्यक नहीं है बल्कि समाज का विधान भी मानव-स्वभाव के अनुकूल है। यहां वे लोग भी जीने देते हैं। वात्सल्य एवं दाम्पत्य के अतिरिक्त मानव-स्वभाव के अन्तर्गत सामाजिकता की भावना को देखकर ही अरस्तु ने मनुष्य को सामाजिक जीव माना है। कांट ने इसी को (Unsociable Sociableness of man) बताया है। फ्रायड ने इसी (ambivalence) को स्पष्ट करते हुए कहा है—“जिसके साथ हम शान्ति से नहीं जी सकते, किन्तु जिसके बिना हम जी ही नहीं सकते”। किन्तु जिसके बिना हम जी ही नहीं सकते”। मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त स्थापक मनोवैज्ञानिक मैक्डगल, ड्रेमर, टेन्सल आदि ने भी समूह-प्रवृत्ति (Instinct of Gregariousness) को माना है। समाज व्यक्तिगत कल्याण के लिये कितना आवश्यक है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इसका एक स्थूल प्रमाण यह भी है कि आज समाजवाद का आन्दोलन जागतिक रूप धारण कर दिनोदिन बढ़ ही रहा है। विभिन्न समाज-शास्त्रियों के अनुसार इसी सामाजिकता की भावना को ड्रेमर ने (Worthwhileness) गम्प्लोविच ने (Syngenism) कूली ने स्वयं-अनुभव, गीडिंगस ने जातीय चेतना तथा लीबान ने सामूहिक मन आदि कहा है। मानवीय सभ्यता के विकास-क्रम में क्रमशः जंगल मानव-समाज, बर्बर मानव-समाज और सभ्य मानव समाज आया है और सभ्य मानव-समाज भी क्रमशः दासता, सामन्तवादी एवं पूंजीवादी युगों को पार करता हुआ समाजवादी मानव समाज के युग आ गया है। जे. सी. कुमारप्पा महोदय ने सभ्यता के परार्थवादी इतिहास क्रम को पांच अवस्थाओं में दिखाया है। पहले पराश्रयी-अवस्था (Predatory) है जिसका प्रतीक ब्याघ्र है, जो दूसरों को खाकर जीता है। फिर तस्कर-समाज (Parasitic) बना, जिसका प्रतीक बन्दर था। इन दोनों अवस्थाओं में बिना किसी श्रम के भोग (Consumption without production) का नियम था। तीसरी अवस्था में उद्योगी (Enterprising) समाज बना जिसका प्रतीक पक्षी था, जिसने अपने घोंसले आदि बनाने का श्रमयुक्त जीवन विधान बनाया। चौथी अवस्था का प्रतीक मधुमक्खी है जिसका श्रम केवल अपने लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज के लिये भी होता है अन्त में हम सेवा-युग (Service stage) में आते हैं जहां हमारा जीवन माता की तरह दूसरों के लिये ही समर्पित है। हम देखते हैं कि मानव-समाज के विकासक्रम में उत्तरोत्तर अहिंसा का अधिकाधिक समावेश और हिंसा का क्रमिक निराकरण होता गया है। समाज एवं राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों में “शक्ति सिद्धान्त” को

को छोड़कर समाज-संगठन में प्रायः सबों ने प्रेम एवं प्रसंविदा को ही अपनाया है।

अहिंसा : विवेचन और विस्तार :

(क) अभावात्मक शब्दावली क्यों ? “अहिंसा” पद देखने में भले ही अभावात्मक है लेकिन यथार्थ में यह भावात्मक पद ही है। यों तो वैशेषिक दर्शन में “अभाव” को भी एक पदार्थ ही माना गया है लेकिन ब्रैडले जैसे प्रत्ययवादी विचारक पूर्ण रूप से अभाव का अस्तित्व नहीं मानते। दूसरा तर्क हम यह भी दे सकते हैं कि “हिंसा” और “अहिंसा” ये दोनों व्याघातक पद हैं, अतः एक के अस्तित्व मात्र से भी इसके विपरीत व्याघातक पद का सहज ही अर्थबोध होता है। तीसरा एक और कारण हो सकता है। “अहिंसा” को धर्म मानकर उपनिषद्, श्रुति, स्मृति तथा बौद्ध एवं जैन वाङ्मय में प्रतिष्ठित स्थान मिला है तथा महावीर ने तो “अहिंसा परमोधर्मः” कहकर इसको पूर्ण प्रतिष्ठित कर दिया है। एक कारण यह भी हो सकता है कि चूँकि अहिंसा का भावात्मक अर्थ प्रेम बताया जाता है और प्रेम शब्द चूँकि अनेकार्थक एवं अस्पष्ट होने के साथ-साथ कई गुणों का समावेश करता है जिसमें से केवल एक गुण अहिंसा है, इसलिये “अहिंसा” पद को ही स्वीकार किया गया है। अहिंसा को छोड़कर प्रेम शब्द को इसलिए स्वीकार नहीं किया गया है कि ‘प्रेम’ शब्द आवश्यकता से अधिक व्यापक है।

(ख) अहिंसा की भावात्मक व्याख्या:—अहिंसा की भावात्मक व्याख्या के क्रम में इसे सक्रिय-प्रेम (active love) कहा गया है। जैसे “मा हिंस्यात् सर्वभूतानि” जैसे निषेधात्मक श्रुतिवचनों का भावात्मक अर्थ होगा—‘सर्वभूत हिते रताः’ अहिंसा की सर्वांगीण एवं सनातन प्रतिष्ठा के लिये मन, वचन और कर्म—त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना आवश्यक है। इसके लिये एक नवीन-दर्शन, एक नवीन तत्त्वज्ञान चाहिये। हम बड़ी विनम्रता के साथ कहना चाहेंगे कि अहिंसा का आधारभूत तत्त्वज्ञान अनेकान्त दर्शन है। अनेकान्त दृष्टि का अवलम्बन ही वस्तुतः मानसिक अहिंसा है। वस्तु जगत् की संश्लिष्टता एवं अनन्तता तथा मानव मस्तिष्क की स्वीय स्वल्पज्ञता को ध्यान में रखते हुये अपनी एक क्षुद्र दृष्टि का अहंकार और आग्रह तथा अन्य दृष्टि की अपेक्षा से एक हिंसक मानसिक आग्रहवाद का आविर्भाव होता है। विचार जब किसी अंध आग्रह पर आरूढ़ हो जाता है तो मतवाद बन जाता है। हमारे सभी अंधविश्वास किसी न किसी पक्षपात-पूर्ण दृष्टि विशेष की आसक्ति का ही प्रतिफल हैं। इसीलिये व्यावहारिक अहिंसा के लिये सभी प्रकार के दुराग्रहपूर्ण वैचारिक साम्राज्यवाद एवं अतिक्रमण का परित्याग परमावश्यक है। निष्कर्ष यह कि अपने को सदा-सर्वदा सही

एवं दूसरों को अनिवार्य रूप से गलत मान लेने से बढ़कर हिंसा की कोई दूसरी मजबूत जड़ नहीं हो सकती। यहीं बाह्य हिंसा का बीज है। इसलिये अपने सिद्धांत में हिमालय की तरह दृढ़ रहने वाले विश्वव्यंघ्र बापू ने बराबर कहा है “मैं स्वभाव से ही समन्वयवादी हूँ; क्योंकि केवल मैं ही सच्चा हूँ ऐसा मुझे कभी विश्वास नहीं होता।” सचमुच जिस व्यक्ति में अपने अंश-ज्ञान या अल्पज्ञान का भान जगा हुआ होता है वह नम्रता से पद-पद पर कहता है कि “ऐसा होना भी संभव है।” इसीलिये सुकरात ने भी कहा था कि “मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञानी हूँ।” प्लेटों ने भी इस भौतिक पदार्थ को “सत्” एवं “असत्” के बीच माना है। पूर्ण ज्ञान तो शायद किसी को होना भी संभव नहीं। सर्व सर्व न जानाति, सर्वज्ञः नास्ति कश्चन्। इसीलिये हमारा व्यक्तिगत ज्ञान, जिसे हम अंश ज्ञान या opinion कहेंगे, वह संभावना विषयक विश्वास ही कहा जायगा। इसीलिए तो शंकर एवं ब्रैडले को भी मानना पड़ा था कि माया या भ्रान्ति भी सत्य है क्योंकि प्रत्येक भ्रान्ति में सत्य का र्थात्कचित अंश तो रहता ही है। (Every sweet has its sour, every evil good) सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार मानव सामर्थ्य के बाहर है। इसीलिये हमें अपने दृष्टिकोण के साथ अन्य दृष्टिकोण भी हैं, ऐसा जानना और मानना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब हम उसकी भावनाओं के साथ सहानुभूति एवं सहृदयता द्वारा अपने मन में उसकी पुनरुत्पत्ति के द्वारा उनको समझें। जीवन एक सीधी सड़क नहीं है। इसीलिए यहां अपने पर आग्रह के बदले विरोधियों को समझने का प्रयास अपेक्षित है। मनुष्य यदि स्वभाव से दुष्ट नहीं है तो मुख्य प्रश्न दृष्टिकोण का है। समझ के अभाव में ही सारे कलह होते हैं। अतः विचार-संघर्ष में अनेकान्त दृष्टि के द्वारा ही स्थायी विराम संभव है। इस तरह हम देखते हैं कि अहिंसा एक विचार-पद्धति है, एक जीवन-दृष्टि है। यह सब दिशाओं से, सब ओर से खुला एक मानस-चक्षु है। अनेकान्त कोई कल्पना नहीं बल्कि यथार्थता का जीवित सिद्धान्त है। वह तो किसी भी विषय को केवल संकीर्ण दृष्टि से देखने का निषेध करता है।

मानसिक और बौद्धिक अहिंसा की साधना जब परिपूर्ण हो जायगी तो स्वतः ही वाचनिक अहिंसा आ जायगी। वाचनिक अहिंसा के लिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि मिथ्यात्व, कठोरता, व्यंग्य एवं संप्रलाप का ही हम परित्याग करें बल्कि उसकी भाव शैली भी ऐसी होनी चाहिए जिससे कि अंधाग्रह या दुराग्रह की ध्वनि नहीं निकले। जैन विचारकों ने अहिंसक अवधारणात्मक योजना के अन्वेषण-क्रम में स्याद्वाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। हम भले ही स्याद्वाद के सभी शास्त्रीय एवं प्राविधिक पहलुओं से सहमत नहीं भी हों लेकिन उसकी अन्तर्गत विचार-सहिष्णुता एवं दूसरों के

दृष्टिकोण के प्रति वास्तविक समादार की भावना में तो होंगे ही। “स्याद्वाद” शब्द में स्यात् एक ऐसा प्रहरी है जो शब्द की मर्यादा को संतुलित रखता है। “स्याद” का अर्थ ‘शायद’, ‘संभवतः’ या ‘कदाचित्’ नहीं बल्कि ‘कथंचित्’ या ‘अपेक्षित’ होगा, यानी अविवक्षित धर्मों का अस्तित्व भी वस्तु में द्योतित होता है। यानी, केवल हमारा मानस और चित्त ही अनैकांतिक नहीं रहे बल्कि हमारी वाणी भी एकांश प्रतिपादिका न रह कर अनेकांत भाव को प्रकट करते रहें। इस तरह हमने देखा कि अहिंसा केवल व्यवहारगत ही नहीं, मानसिक एवं वाचनिक भी है, जो स्याद्वाद की निर्दोष एवं अहिंसक भाषा शैली से बहुत हद तक संभव भी है।

(ग) अहिंसा की समग्र व्याख्या:—लेकिन अहिंसा का यह कार्यात्मक, मानसिक एवं वाचिक रूप से त्रिविध प्रयोग केवल वैयक्तिक जीवन साधना में या जीवन के किसी एक क्षेत्र में ही सीमित नहीं रहेगा। जीवन का सम्पूर्ण क्षेत्र ही अहिंसा की रंगशाला होगी। अहिंसा का अन्वेषण मानवीय सम्यता की शायद सबसे बड़ी उपलब्धि है। प्रेम ही इसका आदि, मध्य एवं अन्त है। यदि हम कुछ गहराई से विचार करें तो यह पता लगेगा कि अहिंसा का अन्वेषण वस्तुतः सत्य का ही अन्वेषण है। सत्य का सम्पूर्ण त्रिकाल बाधित स्वरूप में दर्शन होना तो कठिन है ही, उसका सत्यापन तो और भी कठिन है। इस प्रकार अपूर्ण सत्यदर्शी मानव के चित्त में देश-काल-परिस्थिति, भाषा, उसकी मनोदशा आदि का प्रभाव पतड़ा है। अस्तु, इस स्थिति में समन्व-यात्मक प्रज्ञा एवं मिथ्याभिमान का परित्याग ही अहिंसक जीवन-दर्शन को जन्म देता है। यह जीवन की अनिवार्यता भी है।

यदि हम पारिवारिक जीवन से विवेचन आरम्भ करें तो हम यहां सक्रिय प्रेम एवं पारस्परिक त्याग का बिलकुल सजीव उदाहरण मिलेगा। मां की ममता एवं पिता के प्यार में हम वस्तुतः अहिंसा को मूर्तमान देखते हैं।

सामाजिक-जीवन में अपने व्यक्तिगत निरकुश आवेगों को मर्यादित एवं विवेकपूर्ण नियमन एवं नियंत्रण के द्वारा समाज को संतुलित रखने की उत्तरोत्तर अभ्युदयवान् क्रिया को ही अहिंसा कहते हैं। जीवित अहिंसा की प्रेरणा निषेध नहीं बल्कि सर्वमंगलकर पारस्परिक त्याग ही है लेकिन समाज के आदर्श संतुलन के लिए सामाजिक-साम्य अनिवार्य है। अतः जाति, सत्ता, सम्पत्ति आदि के आधार पर स्थापित सामाजिक वैषम्य वस्तुतः हिंसा है।

आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना ही हिंसक भावना है। प्रूधो ने भी कहा है : Property is theft. गीता ने बताया है: त्यक्त सर्व परिग्रहः। इसका अर्थ हुआ कि व्यक्तिगत स्वामित्व का निराकरण करने करना एक अहिंसक विधान है।

उसी प्रकार सामाजिक-जीवन में वर्णभेद या उच्च-नीच का भाव

रखना सामाजिक-हिंसा का स्थूल रूप है। धार्मिक क्षेत्र में अहिंसा की भावना "सर्वधर्म समभाव" में ही आ कर साकार हो सकती है। विचार जब धार्मिक आग्रहवाद पर आरूढ़ हो जाता है तो वह सम्प्रदाय बनकर असहिष्णु एवं हिंसक हो जाता है।

साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में अहिंसा की भावना एक उदार एवं जीवनोन्मुख दृष्टि रखती है। साहित्य के क्षेत्र में अहिंसा अनेक वस्तुओं का, अनेक रीति से प्राचीन एवं नवीन ज्ञान संचित करने के लिए प्रेरित करती है। अहिंसक संस्कृति अनिवार्यतः सामाजिक संस्कृति होगी। शायद यह दुहराना आवश्यक नहीं होगा कि अहिंसक संस्कृति का आधार शोषण हो ही नहीं सकता। यहाँ मैं बहुत विनम्रता के साथ कहता चाहूँगा कि शोषण के आधार पर निर्मित बड़े बड़े कलात्मक राजप्रासाद या कला कीर्ति भले ही विशुद्ध कला की दृष्टि से उत्तम हों लेकिन वे अहिंसक संस्कृति के प्रतीक नहीं हो सकते।

राष्ट्रीय सन्दर्भ में क्रमशः निरंकुश राजसत्ता के बदले जनतंत्र की ओर विश्व मानस की प्रवृत्ति अहिंसा की ओर एक शक्तिशाली कदम है। सच्चे जनतंत्र का आधार कभी भी हिंसा नहीं हो सकता। यहाँ बहुमत का राज्य के लिए भले ही हो लेकिन अल्पमत आदर रहता है। ईसा ने कहा "अपने शत्रुओं को प्यार करो" और जनतंत्र कहता है अल्पमत का आदर करो।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उत्तरोत्तर विकास एवं उनकी मान्यताएं बढ़ती हुई अहिंसा का ही संकेत है। आज तो साम्यवादी रूस भी "युद्ध की अनिवार्यता" में विश्वास छोड़कर राजनैतिक सह-अस्तित्व का प्रतिपादन कर रहा है। उसी तरह विश्व सरकार की और मानव की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आकांक्षाएँ भी विश्वव्यापिनी अहिंसा की भावना का समर्थन करती हैं। मैं मार्क्स एवं गांधी के विचारों में प्राप्य राज्य शासन के विलयन की कल्पना पाता हूँ, शासन के साथ हिंसा का अनुस्यूत सम्बन्ध हो जाता है।

दंड शास्त्र एवं दंड विधान के क्षेत्र में भी हम अहिंसा की ओर स्पष्ट कदम पाते हैं। यों तो दंड का आधार ही हिंसा है, किन्तु आज सभ्यता के ही नाम पर बहुत से देशों में प्राणदण्ड तो उठाया जा रहा है साथ-साथ दंड को कम से कम नृशंस एवं क्रूर बनाने का भी प्रयास हो रहा है। उसी तरह अपराधी बालकों के लिए जेलखाने के बदले सुधारात्मक पाठशालाओं की व्यवस्था हो रही है।

शिक्षा शास्त्र के नये आयाम में भी दंड एवं हिंसा एक बर्बरता मानी गयी है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ है—अन्तर्निहित गुणों की अभिव्यक्ति, जो जबर्दस्ती या दंडविधान के द्वारा संभव नहीं। अतः हम यह विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि सच्ची शिक्षा ही नहीं, कोई भी शिक्षा अहिंसक ही हो सकती है।

५. अहिंसा की शत्रु परीक्षा : एक विश्लेषण :—

यह एक साधारण बात सी हो गयी है कि लोग अहिंसा को एक सुन्दर सिद्धांत, एक सौम्य आदर्श तो स्वीकार कर लेते हैं लेकिन इसे अव्यावहारिक मान लेते हैं ।

- (क) अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका उपयोग बच्चे से बूढ़े, बीमार से स्वस्थ और धनी से गरीब सब कर सकते हैं । अतः यह प्रतिकार का हिंसा से अधिक प्रभावकर साधन है ।
- (ख) यह सोचना भी गलत है कि अहिंसक प्रतिकार केवल व्यक्तिगत जीवन के लिये उपयुक्त है, लेकिन सामाजिक जीवन में यह बिल्कुल अर्थहीन है । वस्तुतः गांधी एवं विनोबा की सामूहिक अहिंसा एवं सत्याग्रह के प्रयोग के बाद यह आरोप निराधार माना जायेगा ही ।
- (ग) अहिंसक प्रतिकार ही प्रतिकार का सर्वोत्तम साधन है, इससे ही हिंसा का मौलिक एवं आत्यन्तिक निराकरण संभव है । हिंसक प्रतिकार में प्रतिहिंसा एवं प्रतिक्रिया का चक्र अखंड रूप से चलता ही रहता है, जिसमें अन्यायी के नाश से तात्कालिक समाधान तो हो जाता है लेकिन अन्यथा का समुलोच्छेद संभव नहीं होता ।
- (घ) अहिंसक सेनानी, ध्यान, जप, योग में मग्न व्यर्थ एवं निष्क्रिय तत्वज्ञानी नहीं होता, वह तो सच्चा पुरुषार्थी बनकर अश्विनरामरूप से अन्याय के विरुद्ध प्राणपण से सक्रिय एवं सजीव रहता है । इस युद्ध में केवल उसका शरीर एवं मस्तिष्क ही नहीं बल्कि उसकी सम्पूर्ण आत्मा भी युद्धरत रहती है ।
- (च) हिंसक युद्ध में विजय में भी भविष्य में पराजय की आशंका बनी रहती है, लेकिन अहिंसक युद्ध में पराजय होती ही नहीं और विजय में एक सौम्यता एवं निश्चितता विराजमान रहती है ।
- (छ) अहिंसा कोई प्रतिकार नहीं बल्कि क्षमा की पराकाष्ठा है, जिसके लिये अखंड निर्भयता एवं अपार वीरता चाहिये । अहिंसा कायरो का युद्ध कौशल नहीं है । कायरता से तो हिंसा ही श्रेयस्कर है ।
- (ज) हिंसा की अपनी सीमाये हैं । हिंसा के द्वारा यदि कोई सुन्दर कार्य भी होता है, लेकिन हिंसा के द्वारा जो अहित है वह चिरस्थायी रह जाता है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिंसा का उपयोग करने वाले स्वयं हिंसा की लपेट में जल जाते हैं ।
- (झ) अहिंसा के विषय में हमारी यह धारणा भ्रान्त है कि यह समय-साधक प्रक्रिया है । वस्तुतः अहिंसा अपना काम सूक्ष्मता से अदृश होकर करती है, लेकिन तीव्रता कम नहीं रहती । अहिंसा का आक्रमण

अमोघ होता है, इसीलिये बापू ने कहा है कि यह सबसे द्रुतगामी प्रक्रिया है, क्योंकि इसकी सफलता निस्संशय है।

- (ट) सबसे अंत में, हम यह कहेंगे कि मानवीय सभ्यता के विकास के इस सोपान पर हमारे लिये बर्बरता शोभा नहीं देती। अहिंसक युद्ध में मानवीयता और भी प्रखर होती है। हिंसक युद्ध तो वस्तुतः मत्स्य-न्याय है, जिसकी हम इतनी निन्दा करते हैं।
- (ठ) बाह्य आक्रमणों के संदर्भों में अहिंसा की निष्फलता सिद्ध करने का प्रयास शायद अहिंसा की कसौटी होगी। इस सम्बन्ध में हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं, चूंकि आज तक कोई भी राष्ट्र अहिंसक होकर किसी आक्रमण का सामना करने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ है : निःशस्त्र एवं अहिंसक राष्ट्र की तो अलग बात है, आज हम देखते हैं कि कुछ हद तक शांतिवादी एवं तटस्थ राष्ट्र के कारण ही चीनी आक्रमण के संदर्भ में भारत को विश्व के राष्ट्रों की सहानुभूति मिली है। इसलिये तो स्वर्गीय डा. राजेन्द्र प्रसाद ने विश्वशांति के लिए एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण का सुझाव दिया था। निश्चय ही सचमुच में निःशस्त्र एवं निष्पक्ष राष्ट्र की रक्षा के लिये आज विश्वमानस बन चुका है।

उपसंहार

(क) विश्वशांति : आणविक अस्त्रों के नित्य नवीन शोधन परिशोधन से आज मानवता आक्रान्त भले ही है, लेकिन यह हमें मानना होगा कि आज शस्त्रों का सांस्कृतिक मूल्य तो नष्ट हो ही गया है, युद्ध का गतितत्व भी समाप्त हो चुका है। सांस्कृतिक मूल्य तभी तक था जब यह अपेक्षाकृत आंशिक विनाश के साधन स्वरूप प्रभुत्व प्राप्त का उपकरण था। किन्तु जब इसमें सर्वनाश की मूर्त्त सम्भावना प्रकट हो गयी है तो इसका मूल्य ही समाप्त हो गया है। इसलिए निःशस्त्रीकरण एक अनिवार्यता बन गयी है। युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास करने वाला साम्यवादी चीन भी आज अणु-अस्त्रों के परीक्षण के आंशिक निरोध का इसलिये विरोध करता है कि आंशिक परीक्षण ढकोसला है, वास्तव में सम्पूर्ण परीक्षण बन्द हो। यानि, आज युद्ध समर्थक असभ्य एवं असांस्कृतिक तो माना जायगा ही वह विश्व मानस में अपराधी भी होगा। चाहे यह प्रकृति का व्यंग ही क्यों न हो, चाहे इसे नियतिवाद ही क्यों न कहें, आज निःशस्त्रीकरण एवं विश्वयुद्ध निरोध मानवता के लिये अपरिहार्य बन गया है।

(ख) विश्व सरकार : राष्ट्रीय संप्रभुता के आंशिक समर्पण की प्रक्रिया उसी समय प्रारम्भ हो गयी जबसे उग्र एवं संकुचित राष्ट्रवाद के गर्भ से

फासिस्ट एवं नाजीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। संकुचित राष्ट्रवाद से दूसरे राष्ट्र एवं विश्वशांति को खतरा तो रहता ही है, स्वयं उस राष्ट्र के नागरिकों की सुरक्षा, स्वतंत्रता एवं सुख का कोई भरोसा नहीं। आज अन्तर्राष्ट्रीयता कोई स्वप्न नहीं बल्कि नित्यप्रति विकसित यथार्थ है। राष्ट्रीय संप्रभुता की कठोर जंजीरें भी ढीली पड़ती जा रही हैं। राज्यवाद की बढ़ती हुई दुःशंकाओं से आक्रान्ता आज की विचारणा अखंड प्रभुसत्ता के सिद्धांत को चुनौती दे चुकी है। मैकाइवर महोदय ने तो संप्रभुता में सन्निहित राज्य की इस सर्वशक्तिमान सत्ता को अकुशलता का पर्यायवाची बताया है तथा लास्की, केल आदि विचारक आर्थिक समुदायों की समान संप्रभुता में विश्वास करने लगे हैं। गेटेल ने संप्रभुता के प्रति इस विरोध को रूढ़िवादी वैधानिकवाद के विरुद्ध सामयिक प्रतिवाद माना है। इसलिए तो आज केवल “अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय” ही नहीं बल्कि “संयुक्त राष्ट्रसंघ” के रूप में विश्व-सरकार की नींव पड़ चुकी है। आज न तो राहुल की “वाईसवीं सदी” एवं न बैन्डल विल्की का “वन वर्ल्ड” ही स्वप्न प्रतीत होता है।

अपरिग्रह के बिना अहिंसा असंभव

हिंसा मारीच की तरह बड़ा हाँ छलिया होता है। हम भी स्थूल हिंसा को ही हिंसा मान लेते हैं। इस कारण अहिंसा भी केवल वाह्य-आचरण का निर्जीव कर्मकांड बनता जा रहा है। आज विश्व के स्तर पर अहिंसा की अनुगूँज सर्वाधिक है। साधु-संत तो हमेशा से अहिंसा की बातें करते रहे हैं लेकिन अब तो राजपुरुष एवं राजनैतिक भी शांति और अहिंसा का जप करते नहीं थकते। भारत में तो कम किन्तु पाश्चात्य देशों में शांति के ऊपर पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का बाहुल्य है। शांति-गोष्ठी, शांति-कूच, शांति के लिए प्रदर्शनों एवं सम्मेलनों का तो ताँता लगा रहता है। भारतीय मानस शांति के इस उपक्रम की आवश्यकता नहीं समझता क्योंकि शांति का रक्त स्वतः उसकी धमनियों में प्रवाहित होता रहा है। इसीलिये वह अहिंसा के नाम पर स्थूल हिंसा और छोटे-छोटे भूत दया के कार्यों पर बल देता है। निरामिष आहार हमारी संस्कृति का अंग है, जैसे सामिष आहार पाश्चात्य देशों की संस्कृति बन गयी है। हम स्थूल हिंसा जैसे मार-पीट, खून-खराबा से भी परहेज करते हैं। अहिंसा और जीव-दया के नाम पर चींटी को चीनी खिलाते हैं, प्रकाश में छोटे जीवों की हत्या न हो जाय, उसके लिए सूर्यास्त के पूर्व तक भोजनादि करने की परम्परा को मानते हैं।

फिर भी हमारे जन-जीवन में हिंसा ने सुरसा का रूप धारण कर लिया है और आतंकवाद की गोद में नृशंस क्रूरता और पाशविकता का वीभत्स अभिनय हो रहा है। असल में हम हिंसा की जड़ों तक पहुंचने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। हिंसा शून्य से उदभूत नहीं होती है, वह तो हमारे अन्तर्मन के संत्रास, घुटन और विद्वेष आदि से पैदा होती है। लेकिन हमारा अन्तर्मन भाँ स्वभावतः दुष्ट नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसमें निखिल मानव-जाति का अपमान तो है ही, निराशावाद भी प्रस्फुट हो जाता है। मनुष्य को स्वभावतः अच्छा मान लेने से एक जटिल समस्या उत्पन्न होगी कि वह फिर बुरा क्यों हो जाता है? शायद इसमें व्यवस्था और परिस्थिति का दोष है। इसीलिये तो कहा जाता है कि अच्छाई प्राकृतिक एवं स्वाभाविक है, बुराई की वजह होती है। मुहब्बत यों ही हो जाती है अदावत के लिये वजहें होती हैं। तो हमारी समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था ही हिंसा-प्रमुख हो जाती है, इसलिए हिंसा का परिवार-नियोजन नहीं हो पाता। विषमता

के कारण समाज सचमुच समाज नहीं रह पाता। जहाँ समता होती है, वही “समाज” है—समं अजंति जनाः। समाज का यह आधार तत्व “समत्व” जहाँ जिस अनुपात में भंग होता है उसका संतुलन बिगड़ जाता है, फिर हिंसा का प्रजनन प्रारम्भ होता है।

मेरी तुच्छ दृष्टि में हिंसा की जड़ में विषमता तो है ही और विषमता में मूल है—आर्थिक विषमता “अर्थस्य पुरुषो दासो। अर्थ-वैषम्य के कारण सामाजिक वैषम्य बढ़ता है। असल में अर्थ भगवान पर हावी हो जाते हैं। अर्थ आज केवल राजनीति को ही नहीं धर्म को भी नियंत्रित करता है और धर्म के नाम पर आज धर्म-पीठ पूंजीवाद के गढ़ बन रहे हैं। धर्म जो निरभ्र सात्विकता का प्रतीक होना चाहिये, आज वहाँ भी वैभव का वीभत्स प्रदर्शन, अलंकरण और विलास बढ़ रहे हैं। भगवान रजनीश, महर्षि महेश योगी, पोपपाल या शंकराचार्य आदि धर्मगुरुओं के पीठ किसी भी सार्मत या राजदरबार के आडम्बर से कम नहीं। संभव है व्यक्तिगत रूप से वे सरल एवं सादा जीवन ही व्यतीत करते हैं। यही कारण है कि सादगी एवं अपरिग्रह पर धर्म के उपदेशों” को गृहस्थ एवं श्रावकों ने अपने जीवन में भुला दिया और लाखों-करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति के स्वामी बनकर भी उन साधु-संत महात्माओं के निकटस्थ भक्त बने रहे। परिग्रह के पाप मुक्ति के लिये थोड़ा बहुत दान या विसर्जन कर प्रायश्चित्त भी हो गया एवं दानी भी कहला गये। लेकिन समाज की जड़ में अर्थ-विषमता का जहर घुलता ही गया।

भारतीय-मनीषियों ने इस खंतरे को समझ लिया था। इसीलिए साधु-संत और महात्मा स्वरूप समाज के ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान तो दिया लेकिन सत्ता सम्पत्ति दोनों से एकदम दूर रहते का विधान बना दिया। ब्राह्मणो अपरिग्रही” “नीतिवचन” में “परद्रव्येषु लोष्ट्रवत्” एवं संत विनोबा ने “कांचन-मुक्ति” जैसे कठोर व्रत का प्रयोग किया। जहाँ “श्रम का आवास है, वहीं “आश्रम” है—इसी को आश्रम कहना सार्थक होगा।

इस सत्य को भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक ने आत्मानुभूति की थी और अनागारी के साथ-साथ लज्जा-निवारण की ग्रन्थि से भी मुक्त होकर वस्त्र का भी परित्याग कर दिया। अपरिग्रह की साधना का उनके जीवन में पदार्थ-पाठ मिलता है।

“सूयगडो” के बिल्कुल प्रारम्भ में ही वार्तालाप के क्रम में बताया गया है कि “हिंसा का कारण है परिग्रह”। तत्वार्थ सूत्र में परिग्रह को मूर्च्छा कहा है—“मूर्च्छा परिग्रहः” मूर्च्छा एक प्रकार की आसक्ति है। धन की आसक्ति का कारण है कि हम मानते हैं कि धन से सुख मिल सकता है। लेकिन हम जानते हैं कि सुख तो संतोष और संयम से मिलता है। यमराज ने जब नचिकेता को “बहुन्पशु हस्ति हिरण्यं अश्वान्” का प्रलोभन दिया तो

नचिकेता ने हाथ जोड़कर कह दिया “न वित्तेन तर्पणीयों मनुष्यो” याज्ञवल्क्य ने जब मैत्रेयी को सम्पत्ति देनी चाही तो उसने पूछा “क्या यह लेकर मुझे सुख मिलेगा ? और जब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—“नहीं तो कह उठी—“ये नाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्” “जिसको लेकर मुझे सुख नहीं मिलेगा, वह लेकर ही मैं क्या करूंगी ? इसीलिये कहा गया है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान ।

जब आया संतोष धन सब धन भूरि समान ॥

फिर भी हमारी मूर्च्छा इतनी प्रचंड है कि हम “सुख” को बलि देकर सम्पत्ति संग्रह में लगे हैं । अतः हमें महावीर प्रिय नहीं, हमारे लिये तो बैक बैलैस ही महावीर है । हमारी इसी मूर्च्छा ने समाज को हिंसा प्रवण बना दिया । साम्यवाद इसी रहस्य को समझकर आगे बढ़ा और इतनी जल्दी इतना चमत्कार कर पाया । सच्चा साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार ही नहीं करता । इस दृष्टि से सच्चा साम्यवाद भगवान महावीर के अधिक निकट है । भगवान पूजा और चंदन से नहीं आचरण से प्रसन्न होते हैं ! जिस अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहे, सभी व्यक्ति को जीविका का अधिकार हो, व्यक्तिगत मुनाफे के लिये उपभोक्ताओं एवं श्रमिकों का शोषण नहीं हो तथा औसत लोगों की आमदनी में अंतर कम से कम हो, वहीं व्यवस्था अहिंसा को स्थायित्व प्रदान कर सकती हैं । अहिंसा के लिये अहिंसक अर्थ व्यवस्था एवं अहिंसक राज-व्यवस्था और अहिंसक-समाज एवं शिक्षण-व्यवस्था भी चाहिये । लेकिन अर्थ मूल में है । इसलिए अपरिग्रह के बिना अहिंसा की साधना एक दिवास्वप्न है । यदि हत्या, खून हिंसा है तो आर्थिक शोषण, आर्थिक वैषम्य की वृद्धि को भी हिंसा ही समझिये । युद्ध में हिंसा भी है उन्माद भी है, अनियंत्रित संपत्ति संग्रह में हिंसा है और मूर्च्छा भी । धर्म-पुरुषों ने व्यक्ति की मूर्च्छा दूर करने के लिये अनवरत प्रयत्न किये, मार्क्स जोर साम्यवाद ने अर्थ व्यवस्था से परिग्रह दूर करने का यत्न किया । व्यक्ति तो समाज की ईकाई है । उसकी मूर्च्छा यदि दूर नहीं हुई तो साम्यवाद को संगीनों की छाया में रहना होगा । इसलिए व्यक्ति एवं समाज, अध्यात्म एवं साम्यवाद का समन्वय आवश्यक है ।

निरामिष आहार का दर्शन

जिस प्रकार शंकराचार्य ने “ब्रह्म” और “माया” तथा ब्रैडले ने आभास और सत् (Apperance and Reality) का विचार-भेद तत्त्व-मीमांसा के स्तर पर किया है उसी प्रकार हमें अहिंसा, अपरिग्रह या निरामिष आहार आदि सामाजिक आदर्शों की विवेचना करके इनके यथार्थ और पाषंड का विभेद अधिक गंभीरता से समझना चाहिये। अर्थशास्त्र में प्रेशम के नियमानुसार जिस प्रकार छोटे सिक्के सच्चे सिक्के को बाजार से भगा देने में समर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा और निरामिष आहार आदि की अवधारणाओं के विषय में उनका बाह्य और स्थूल ही प्रबल हो जाते हैं और उनकी आत्मा और वास्तविकता गौण हो जाती है।

निरामिष आहार के भी दो रूप हैं—स्थूल एवं सूक्ष्म। स्थूल दृष्टि से तो निरामिष आहार का इतना ही अर्थ है कि मांसाहार-त्याग। लेकिन इसका सूक्ष्म अर्थ इतना ही नहीं है कि हम आहार में आमिष-भोजन का त्याग तो करें लेकिन हमारे मन में अमैत्री का भाव हो, हमारे व्यवहार में शोषण प्रतिष्ठित हो और हमारे वचन में दर्प और कटुता हो। जिस प्रकार एक ओर चींटी को चीनी खिलाना या मछलियों को तालाब में दाना देना तथा दूसरी ओर बेहिचक मुनाफाखोरी, जमाखोरी और शोषण करना अहिंसा का परिहास है, उसी प्रकार एक तरफ निरामिष आहार का व्रत लेना और दूसरी तरफ प्रपंच विश्वासघात और विषमता में लगे रहना यह पाषंड है।

निरामिष आहार का दर्शन है—मैत्री भाव।

“सत्त्वेषु मैत्री गुणेषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वे।

माध्यस्थ्य भाव विपरीत वृत्तो सदा ममात्मा विदधतु देव ॥”

स्वामीरंगनाथानन्द ने ठीक ही कहा है कि भारत में हाल के कई शताब्दियों में निरामिष आहार सैद्धांतिक आस्था और विश्वास से ज्यादा आनुवंशिक एवं पारिवारिक प्रचलन के रूप में, इसलिये निरामिष आहार के साथ-साथ अन्य प्राणियों एवं मानवों के प्रति अत्यधिक क्रूरता का व्यवहार भी चलता है। यह आत्म-विरोध है। इसके निराकरण के लिये निरामिष आहार जब तक जीवन का मूल्य नहीं बन जाएगा और जब तक यह नैतिक और आध्यात्मिक जागरण का स्रोत नहीं होगा, बल्कि निरामिष आहार एक कर्मकांड बनकर रह जायेगा। विनोबाजी के अनुसार निरामिष आहार तो भारतीय ब्रह्मविद्या का विश्व को श्रेष्ठ अवदान है। भले ही इसका मूल्य अभी प्रकट नहीं हो

लेकिन जैसे-जैसे मानव-सभ्यता का विकास होता जायेगा, इसका महत्त्व और भी अधिक प्रकट होता जायेगा। असल में निरामिष आहार का विकास मानव के विकास और उसकी पूर्णता तथा मानव के धार्मिक और आध्यात्मिक एकता की दिशा में बढ़ते हुए चरण हैं। राघवेन्द्र स्वामी मठ के श्री सुजयेन्द्र तीर्थ ने कहा है कि सात्त्विक होने के लिये सात्त्विक भोजन अपेक्षित है और उसके लिये निरामिष आहार आवश्यक है। मानव व्यक्तित्व से यदि हमें पाशविकता का निर्मूलन करना है तो हमें अपने आहार के लिये दूसरे प्राणी के जीवन लेने का मोह छोड़ना होगा। निरामिष आहार केवल आहार की ही एक शैली नहीं यह जीवन की भी शैली है जिसका आधार है कि हम इस पृथ्वी पर ईश्वर कृत प्राणियों से प्रेम करें एवं उन्हें मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचायें। इसलिये निरामिष आहार केवल शरीर को ही नहीं बल्कि मन और हृदय को विशाल उदार एवं प्रांजल करता है। हम लोग जीने के लिये भोजन करते हैं, भोजन के लिये नहीं जीते हैं। अतः आहार एक साधन है, साध्य नहीं। इसी दृष्टि से हमें वैसे आहार का वरण करना चाहिये जो हमें पोषण देने के साथ-साथ अपने वातावरण से एकात्म कर सके। निरामिष आहार वस्तुतः हमें उस आदिम सभ्यता और संस्कृति की याद दिलाता है जिस समय हम आखेट युग में जीते थे, जिस समय अन्न, बागवानी, फलमूल आदि की खेती का विकास नहीं हुआ था। यद्यपि जीव-शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य भी पशु-जगत् का ही एक प्राणी है फिर भी उसमें बुद्धि और हृदयगत सुकोमल संवेदनाओं का इतना विकास हुआ है कि उसका पशु-स्वभाव संयमित और दमित हो जाता है। इसकी यही कृपा उसे अपने आहार के लिये दूसरे प्राणी का प्राण नहीं लेने के लिये प्रेरणा देता है। इसलिये निरामिष आहार केवल भोजन-विज्ञान नहीं बल्कि मानव-विज्ञान और संस्कृति-विज्ञान भी है।

मानव में अनन्त क्रूरता के साथ अपरिमित कृपा की संभावनायें हैं। वह विकृत होकर विश्व का सबसे अधिक बर्बर एवं नृशंस प्राणी हो सकता है और सुसंस्कृत होकर कृपा की प्रतिमूर्ति बन सकता है। यही है—प्रकृति, विकृति एवं संस्कृति। आहार तो जीवन के लिये आवश्यक है किन्तु हम चाहे किसी प्रकार का आहार ग्रहण करें, मृत्युंजयी नहीं बन सकते। किन्तु हममें ऐसा भी कुछ तत्त्व है जो शाश्वत, चिरंतन और सनातन है। जिसे आत्म-तत्त्व कहा गया है। यह आत्मतत्त्व हमारे आहार पर आधारित नहीं है। फिर यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम किस प्रकार का आहार ग्रहण करें। यहां हमें संकल्प स्वातंत्र्य और क्रिया स्वातंत्र्य है। इस तरह यहां तत्व-मीमांसा एवं आचार-मीमांसा दोनों का समर्थन लिया जा सकता है।

(१) तत्व मीमांसीय आधार :—यदि हम विश्व के समस्त प्राणियों

की एकता (Unity of life) के विचार को स्वीकार करें तो हमें यह मानना होगा कि हमें जैसे जीने का अधिकार है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी जीने का प्राकृतिक अधिकार है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि तो काफी ऊंची है जहाँ “तत्त्वमसि” एवं “अहं ब्रह्मास्मि” के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म एवं जीव की पूर्ण एकता है। उस दृष्टि से किसी प्राणी का वध वस्तुतः अपना ही वध है। अद्वैत के पश्चात् यदि हम विशिष्टा द्वैत और ईश्वरवाद के धरातल पर आकर सोचें तो, जीव ईश्वर का अंश है, इसलिये वह उतना ही पवित्र है जितना ईश्वर। हर जीव में जब ईश्वर का आवास है तो फिर जीव-वध ईश्वर-द्रोह है। जैनशास्त्र के अनुसार भी यह विश्व ही जीवमय है। जिस प्रकार आस्तिक मानस—“हममें तुममें खड़ग खंभ में व्याप्त राम सबमें” या “ईशावास्य मिदं सर्वम्” का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। जैन तत्त्व मीमांसा के अनुसार भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि ही नहीं सूक्ष्मतरु जीव जिसे निगोद कहते हैं उससे सृष्टि अव्याप्त है। तो फिर वनस्पति, फल-मूल आहार करने वाले अपने को अहिंसक कैसे कह सकते हैं? हमारे श्वास-प्रश्वस में अनेक सूक्ष्म जीव चले जाते हैं, जल में सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं और सर जगदीश चन्द्र वसु के अनुसार तो वनस्पति जगत् भी जीव-जगत् ही है। वास्तव में इसे हम अपरिहार्य हिंसा कह सकते हैं। सभ्यता ने हमें मानुष-भक्षी से पशु भक्षी और आज निरामिष भोजी बनाया है। मनुष्य, पशु-पक्षी एवं अन्य प्राणियों के लिये चिन्ता और आतंक से भरे इस परमाणु युग में हमें अपने अन्तर की प्रवृत्तियों का अवगाहन करना होगा क्योंकि हमारा अन्तर ही हमारे बाह्य का निर्माण करता है। मानव के भोग्य-पदार्थों के विकास का अवगाहन भी अन्यन्त रोचक है कि हमने किस प्रकार आखेट युग से निरामिष आहार युग तक की यात्रा की है। यह ठीक है कि निरामिष आहार का जीवन दर्शन एवं प्रारूप नवीनतम है जिसने परम्परागत भोजन के तत्त्वज्ञान को ही चुनौती दे डाली है। और प्राणी के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित कर ही मानव का आध्यात्मिक पुनर्जन्म होता है। सभी आध्यात्मिक विकास के लिये निरामिष जीवन-पद्धति इसलिये भी अपेक्षित है कि अध्यात्म-जगत् में सभी प्राणियों का स्थान है। आध्यात्मिकता व्यक्तिगत और सार्वदेशिक चेतना का गुण है जिसके माध्यम से व्यक्तिगत चेतना सार्वदेशिक चेतना से एकात्म होती है। इससे हम सभी प्राणियों के प्रति स्वतः संवेदनशील हो जाते हैं। किन्तु निरामिष आहार का भी गर्व करना और आमिष भोजियों से अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयास इसके महत्त्व को कम कर देता है। इसीलिये केवल निरामिष आहार ही आध्यात्मिकता के लिये पर्याप्त नहीं है बल्कि निरामिष आहार से प्राप्त समग्र प्राणियों के प्रति प्रेम का जीवन-दर्शन जिसे हम सात्त्विकता कहते हैं, आवश्यक है। सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला, अनामय

(निर्विकार), होता है इसलिये उससे सुख प्राप्त होता है (गीता १४/६,९, १७,१८,१९) श्री अरविन्द के अनुसार आहार के प्रति अत्यधिक आसक्ति, आतुरता एवं स्वाद-लोभ ही इसको महत्त्व देता है। योगी इस आसक्ति पर विजय प्राप्त करके केवल शरीर रक्षा के लिये आहार ग्रहण करता है। इस आहार-आसक्ति पर विजय पाने के लिये उस समग्र चिन्तन चेतना के प्रति सचेतन होना होगा और फिर मनो-जगत् से आत्म या अध्यात्म-जगत् में प्रवेश करेंगे। श्री रमण महर्षि ने भी मन में सात्त्विक प्रवृत्तियाँ जागृत करने के लिये सात्त्विक आहार पर बल दिया है जिसके बाद ही हम आत्मज्ञान की ओर अभिमुख हो सकते हैं।

२. धार्मिक आधार

इसाई धर्म के संत थामस एकवीनास के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने दुनिया के अन्य सभी प्राणी मनुष्य के उपयोग के लिये सृजित माने हैं क्योंकि केवल मनुष्य में आत्मा है, अन्य प्राणियों में नहीं। किन्तु उनके प्रवचन १२.१० में कहा गया है “एक धर्मप्रिय व्यक्ति अपने पशुओं की चिन्ता रखता है।” फिर इसाइया (Book of Isaiah) स्पष्ट कहता है—“जो एक बैल की हत्या करता है मानो वह मनुष्य की ही हत्या करता है जेनेसिस (Genesis 1:29)में आकर्षक ढंग से कहा गया है “मैंने वनस्पति आदि दिये हैं और वृक्ष में फल है जो किसी प्राणी के मांस के बदले ही है।” प्रत्येक धर्मगुरुओं ने प्राण-सिद्धांत को ध्यान में रखकर प्रेम एवं करुणा की बातें कहीं हैं। आज तो अनेक मुसलमान भी हलाल की क्रूरता से व्यथित होकर उसका पालन नहीं करते। बौद्ध धर्म के अनुसार महाकरुणा के निर्माण से ही बोधिचित्त तैयार होता है जो निर्वाण या बोधिसत्त्व के लिये आवश्यक है। भगवान बुद्ध के पंचशील में अहिंसा को प्राथमिकता है ही। लंकावतार सूत्र में सुन्दर ढंग से कहा गया है कि मनुष्य या पशु सभी प्राणी एक ही परिवार के सदस्य हैं। भगवान बुद्ध ने तो यहां तक कहा कि यदि मांस खाना है तो खाओ किन्तु धर्म एवं ईश्वर को इसमें मत घसीटो। संत तिरुवल्लुवर ने तिरुकुरल के दो अध्यायों के १०-१० सूक्तियों में जीव-हिंसा एवं मांस-भक्षण का निषेध किया है। हिन्दू धर्म में वेद-उपनिषद् गीता आदि सभी जगह सात्त्विक जीवन एवं सात्त्विक आहार के निमित्त निरामिष-भोजन का महत्त्व बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में “आश्रद्धौ सत्त्व शुद्धिः” गीता में “सत्त्वं सुखे सजयति,” (१४/९) एवं मनुस्मृति में धर्म के चारों वर्णों के धर्म में अहिंसा (१०/६३) को महत्त्व दिया ही है। जैन धर्म में तो अहिंसा की परा-काष्ठा ही है।

असल में जो धर्म नैतिक मूल्यों से विलग है, वह व्यर्थ है और न्याय

एवं करुणा की मांग है कि हम अपने आहार के लिये किसी प्राणी की जान न लें। हम अपने आध्यात्मिक जीव एवं अन्य प्राणियों को अपना आखेट मान लें—यह धर्म नहीं हो सकता। जब एक प्राणी को शूली पर चढ़ाया जाता है तो सम्पूर्ण सृष्टि ही शूली पर चढ़ती है। मांसाहार में घृणा एवं युद्ध के बीज छिपे हैं। यदि हम पूछें कि आखिर “पशु किस लिये बने ?” तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि “मनुष्य किसके लिये है ?” जो वेदों में मांसाहार सिद्ध करना चाहते हैं वे भूल जाते हैं कि “यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव भूत विजान्ता” (यजुर्वेद ४०/७) “मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्”, “मा हिंसेहि पुरुषम्” (यजुर्वेद, १६/३) “इमं मा हिंसेर द्विपादं पशु” (यजुर्वेद १२/४६), “अरे गोहा नराः बधो वो अस्तु” (ऋग्वेद ८/५६/१७), १/१ ११/१०), “यथा मांसं यथा सूरा यथा यक्षाः अभिदेवने (अथर्व, १/६/७०) आदि को भी देखा जाय तो भ्रम निरसन हो जाय।

३. नैतिक आधार

धर्म और नैतिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। फिर भी शास्त्रों एवं जीर्ण-शीर्ण धार्मिक परम्पराओं में यदि कहीं मांसाहार को प्रश्रय भी मिल जाता है तो उसका निराकरण हम नैतिक दृष्टि से कर सकते हैं। इसलिये राजगोपालाचारी अपनी मौलिक शैली में निरामिष आहार के लिये कोई आहार-विज्ञान अथवा स्वास्थ्य-विज्ञान की ओर से तर्क देना ही भूल मानते हैं। उनका तो कहना है कि इसे हमें विशुद्ध नैतिक आधार पर देखना चाहिये जहां क्रूरता की जगह करुणा, घृणा के स्थान पर दया, कुरूपता के बदले सुन्दरता का विधान है। गांधीजी का भी कहना है कि निरामिष आहार शरीर को पुष्ट करता है या नहीं, इससे अधिक महत्त्व इसको देना चाहिये कि यह नैतिक शक्ति का संवर्द्धन करता है। अहिंसा के व्रत को अपने आहार के लिये परित्याग करना हो तो अनैतिकता है। निरामिष आहार प्रत्यक्ष रूप से हमारे भावों-संवेगों पर नियमन करना सिखाता है। निरामिष आहार अहिंसा का ही आयाम है। जब कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि में एक व्यापक आहार-चक्र है। एक प्राणी दूसरे प्राणी को अपना आहार बनाता है। इस तर्क का खंडन करते हुए प्राचीन यूनानी दार्शनिक पैथागोरस कहते हैं— “बाघ एवं सिंह के लिये आखेट उनकी प्रकृति है किन्तु मनुष्यों के लिये यह विलासिता और अपराध है। “संस्कृति का प्रथम आदेश है कि” तुम क्रूर मत बनो। संस्कृति की सर्वोत्तम नैतिकता तो यही है कि हम जो अपने लिये दूसरों से व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं, वही हम दूसरों के लिये भी करें।” थामस न्यूटन ने कहा है कि पशुओं के प्रति क्रूरता केवल मूर्खता ही नहीं यह ईश्वर का अपमान है। राबर्ट इंगरशोल ने कहा है कि यदि हम किसी के

विचारों को बदलना चाहते हैं तो हमें उसके शरीर को परिष्कृत करना होगा।

मांसाहार मनुष्य के लिये अनिवार्य नहीं है, यही इसके नैतिक आधार के लिये पर्याप्त है। मनुष्य परम्परा एवं आदत के कारण अभी मांसाहार करता है जिसका अब विकल्प है। यह संभव है कि हजारों हजारों वर्ष पूर्व कृषि आदि का आविष्कार नहीं हुआ होगा तो मनुष्य भले ही आखेट पर रहता हो लेकिन अब तो मांसाहार उसकी अनिवार्यता नहीं बल्कि उसकी विलासिता है। आज तो पृथ्वी के किसी कोने में जहां खेती बाड़ी का अभाव हो, वहां भी यातायात के द्रुत साधनों से पर्याप्त अन्न भेजा जा सकता है। अन्न का उत्पादन भी मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। यदि अनिवार्यता रहती तो नैतिकता का प्रश्न नहीं आता किन्तु जहां स्वतंत्रेच्छा है तो हमारे ऊपर निर्भर है कि हम क्रूर बनें या करुणावान बनें। हिंसा एवं प्राणियों के प्रताड़ना के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध है और इससे युद्ध का भी संबंध है। विनवुडरीड ने अपनी पुस्तक "मानव जाति का भविष्य" में लिखा है कि मांसाहारियों के विषय में आनेवाला पीढ़ी उसी प्रकार से हेय दृष्टि से देखेगी जिस प्रकार हम मनुष्य भक्षी युग को देखते हैं। डीन इंग ने तो कहा ही है कि उन्नीसवीं सदी का यह सबसे बड़ा आविष्कार है कि मनुष्य एवं पशु एक ही परिवार के हैं अतः पशुओं के प्रति भी हमारा नैतिक दायित्व है।

४. मांसाहार और सौन्दर्य बोध

मांसाहार और सौन्दर्य बोध मानो आत्म-विरोधात्मक शब्द है। सौंदर्य जीवन और जीवनदान में है, प्राण-हत्या में नहीं। जीवन प्रकृति है, जीवन का नाश विकृति मानना चाहिये। इसलिये तो सौंदर्य बोध की दृष्टि से मांसाहार कुरूपता है, विकृति है। उदाहरण के तौर पर किसी कलात्मक सौष्टव से सजे भवन में प्रवेश करें जहां फूल-पत्तियां परिहास कर रहे हों, एवं चिड़ियां आदि चहक रही हों, वहीं यदि भोजन की मेज पर पशु-पक्षियों के मांस एवं हड्डियां, थालियों में दीख पड़ें तो वहां का सारा सौंदर्य ही क्षत-विक्षत हो जाता है। गुरुदेव ने उसी समय मांसाहार त्याग करने का संकल्प ले लिया था जब वध करने के लिये घोर अनिच्छा से ले जाया जाने वाला पशु-बधियों के पंजे से भाग निकला किन्तु फिर उसे पकड़ लाया गया। "स्तनच्युत भीत पशु क्रंदन" से ही महाकवि की आत्मा भ्रंशित हो गयी। नियति का कैसा व्यंग्य है कि जब कोई पशु या पक्षी मर जाता है तो हमारा स्वाभाविक चिन्तन यही होता है कि उसे जल्दी अपने पास से हटाकर दफना दें किन्तु मारे गये पशुओं के मांस पकाकर हम कई दिनों तक फ्रीज में रखकर खाते रहते हैं। शायद यह कुरूपता की पराकाष्ठा है। टालस्टाय ने अपने संस्मरणात्मक निबंधों में अपने निरामिष होने के सम्बन्ध में लिखा है कि

हम मांसाहार के द्वारा अपनी अन्तर्निहित अनन्त सहानुभूति एवं करुणा आदि की आध्यात्मिक शक्तियों को क्षीण करते हैं और व्यर्थ ही क्रूरता का प्रशिक्षण लेते हैं। किसी प्राणी को कष्ट नहीं देना, यह मानव की स्वाभाविक वृत्ति है किन्तु मांसाहार इस वृत्ति को कुंठित करती है। मेरी वेब (गोल्डन एरोज) ने ठीक ही कहा है कि सौंदर्य तो सम्पूर्ण प्रकृति में है, केवल मांस के बाजारों में नहीं। डा. एच. के लोग ने कहा है कि यह अजीब बात है कि कोई मृत पशु से हम घृणा करते हैं किन्तु बूचड़ की दूकान में मरा हुआ पशु अपने भोजन के लिये शौक से खरीदते हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों के अतिरिक्त यूनान के संत दार्शनिक सुकरात ने यह बताया था कि गणतंत्र का आदर्श किस तरह अन्याय एवं हिंसा से ग्रसित हो जायेगा यदि हम अनावश्यक जीवन-साधना में लगे। मांसाहार भी अनावश्यक ही है। अपलातू (४२७-३४७ ईसा पूर्व) संत बसील (३२०-३७९ ई० पूर्व), संत जेरोम (३४०-४२० ईसाब्द), संत अगस्तीन (३५४-४३०), चैरो स्थोम (३४६-४०६) और कवियों साहित्यकारों में सैम्युल टेलर कोलरिज, लौगपेलो, मिल्टन, कूपर, शेक्सपियर, शेली, वर्डस्वर्थ, रोमां रोला, जार्ज बर्नार्डशा, मैटर लिंक आदि ने जो करुणा मूलक गीत गाये हैं, वे सौंदर्य बोध की दृष्टि से मांसाहार का वर्जन करते हैं। यूनानी दार्शनिक (पिथागोरस) ५७०-४७० ई० पू०) ने १९-२० वर्ष की अवस्था में ही मांसाहार त्याग दिया जिसके फलस्वरूप कम सोने पर भी उनका शरीर स्वस्थ, बुद्धि प्रांजल एवं आत्मा में सात्त्विकता एवं शांति रही।

५. आर्थिक आधार

फुड एन्ड न्यूट्रीशन बोर्ड की राष्ट्रीय शोध परिषद् ने यह सिद्ध किया है कि मांसाहार वाले व्यक्तियों को निरामिष व्यक्तियों की तुलना में छः गुनी अधिक जमीन चाहिये। मांसाहार के लिये पशुओं को चारा उगाने के लिये आज कम से कम ३००,०००,००० एकड़ अच्छी जमीन पर कोई पैदावार नहीं होती। मांस के निर्यात की तात्कालिक अर्थ लोलुपता के पीछे दूरवर्ती विपन्नता भी भांकती रहती है। आज भी अन्न उपजाकर ही हम भारत वर्ष में अपना खाद्य संकट दूर कर पाये हैं न कि मांसाहार से। अनेक शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि कृषि, फल-फूल आदि के संवर्द्धन से ही हम देश की खाद्य समस्या का हल कर सकते हैं। इस संदर्भ में मेजर जनरल मैक्करीशन, डॉ. आयक रोड, डा. वी. एन. पटवर्धन, डा. एच. ए. पी. आदि के प्रामाणिक शोध हमारे मार्गदर्शक हैं। अतः यह तो हमारी सामाजिक आर्थिक अनिवार्यता है।

६. स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि

स्थानाभाव से इस वैज्ञानिक सत्य के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि हमारे शरीर एवं पाचन यंत्र की बनावट मांसाहार के उपयुक्त नहीं हैं। मांसाहार से प्रायः यक्ष्मा, टाइफायड बुखार आदि अनेक रोगों का संक्रमण हो जाता है। प्राकृतिक जीवन के लिये तो मांसाहार आवश्यक तो नहीं ही है, सुलभ पाचन आदि की दृष्टि से यह बाधक भी है। तुलनात्मक शरीर रचनाशास्त्र की दृष्टि से भी निरामिष आहार उपयोगी है। आयुर्वेद एवं प्राकृतिक चिकित्सा में तो इसीलिये मांसाहार का निषेध है। फिर स्वास्थ्य की कल्पना शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों है। निरामिष आहार और विशेष कर सात्विक आहार से शरीर स्वस्थ, मन प्रसन्न एवं हृदय शुद्ध रहता है। मांसाहार के साथ-साथ धीरे-धीरे मद्यपान आदि का भी अभ्यास होने लगता है। मांसाहार उत्तेजना पैदा करता है एवं उसमें आलस्य भी। उदाहरण स्वरूप जो प्राणी मांसाहारी हैं वे जल्दी थकते हैं, जबकि जो निरामिष पशु जैसे हाथी, ऊंट, घोड़े आदि काफी मजबूत होते हैं।

जब हम पशु एवं मानव स्वास्थ्य के व्यापक संदर्भ में विचार करते हैं तो हमें यह मानना होगा कि मानव-कल्याण में पशुओं का भी योगदान है। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों के बीच संतुलित सम्बन्ध स्थापित किया जाय। मनुष्य, पशु एवं पर्यावरण के सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध न केवल मानव-स्वास्थ्य के लिये बल्कि उसके मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य के लिये भी आवश्यक है। हृदय रोग-आयोग ने यह अनुशंसा दी है कि हृदय रोग से बचने के लिये शुद्ध पौष्टिक निरामिष भोजन अनुकूल है। सामिष भोजियों के बीच कैंसर अपेक्षाकृत अधिक होता है। सबसे खतरनाक बात है कि मांसाहार के माध्यम से पशु का रोग मनुष्यों में आ जाता है। मृत पशु का मांस पाचन शक्ति पर अधिक काम देता है। वध के समय पशु का भय, चिन्ता, उद्विग्नता आक्रोश आदि उसके रक्त-स्राव को प्रभावित करते हैं और उनसे हम भी प्रभावित होते हैं। शरीर रचना शास्त्र यह बताता है कि मानव शरीर मांसाहारी पशुओं की तरह नहीं है। इसकी अंतर्द्विजा अपेक्षाकृत बहुत लम्बी होती है। आदमस्मिथ (वेल्थ आफ नेशन) ने निरामिष भोजन को सर्वाधिक स्वास्थ्य प्रद बताया है।

७. निरामिष आहार और विश्वशान्ति

प्रकृति, पशु-पक्षी और मानवों के बीच एक अतिसम्बन्ध है। इन तीनों की समग्रता जब छिन्न-भिन्न की जाती है तो व्यवधान होता है। इससे हमें कर्षणा और सहानुभूति का पदार्थ पाठ प्राप्त होता है। जब हम एक पशु-

पक्षी की जान भी लेना गलत समझेंगे तो हमें मानवीय हिंसा में तो और भी संकोच होना चाहिये। इससे मन में भी शान्ति मिलती है और जब मन में शान्ति होगी तो बाहर भी शांति का वातावरण बनेगा। विज्ञान ने शरीर को भले तृप्त किया हो लेकिन मन अशांत है एवं आत्मा प्यासी है। निरामिष आहार हमारे मानसिक तनाव को दूर करने की दिशा में उपयोगी है। जब तक हम मानसिक तनाव से मुक्त नहीं होंगे, हम शान्ति का स्वप्न नहीं देख सकते। यदि युद्ध की योजना हमारे मस्तिष्क में बनती है तो शांति की रचना भी हमारे मस्तिष्क में होगी। निरामिष आहार शान्ति के जीवन-दर्शन पर आधारित है। आज विश्वशांति इसलिये मृग मरीचिका हो रही है कि हम चाहते हैं शान्ति लेकिन आयोजन करते हैं युद्ध का। मांसाहार भी प्रकृति में निर्दोष, मूक एवं निर्बल पशुओं के ऊपर मानवों का क्रूर युद्ध ही है। यही भावना जब ऊपर होती है तो वह मानव-युद्ध का रूप धारण कर लेता है। अहिंसा की भावना ही निरामिष आहार का तत्त्व-दर्शन है। अहिंसा माता की गोद के समान समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है, इस शब्द की मधुरता के स्वाद से ही प्राणियों के परस्पर वैर भाव का उपशम होता है, उससे हृदय को शांति मिलती है फिर विश्वशांति संभव हो जा सकती है। अंतः शान्तिः बहिःशांतिः ॥

निरामिष आहार और पर्यावरण

यह दुर्भाग्य है कि “निरामिष आहार” को हम किसी “धार्मिक निष्ठा” या “भूतदय” आदि की भावना से जोड़कर ही देखते हैं। वस्तुतः निरामिष-आहार मात्र आहार का प्रश्न नहीं, यह एक जीवनशैली का प्रतीक है। इसमें सौन्दर्य बोध भी है, एवं अध्यात्म का आधार भी। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह अधिक उपयुक्त है तो इसके बलवती आर्थिक आधार भी हैं। लेकिन इसकी सर्वाधिक निकटता का सम्बन्ध पर्यावरण एवं पर्यावरण शास्त्र से है। आज पर्यावरण की समस्या मानव-अस्तित्व के लिये सबसे बड़ी चुनौती है यदि तुलनात्मक दृष्टि से कहा जाय तो परमाणु बम से मानवता को जितना खतरा है, उसकी अपेक्षा पर्यावरण विनाश से सैकड़ों गुना अधिक संकट है। इसलिये पर्यावरण के प्रति चिन्ता काफी बढ़ी है। यह चिन्ता दिनों-दिन थोड़ी बहुत मानवीय भी होती जा रही है। पर्यावरण का सम्बन्ध हमारी संस्कृति, परम्परा, साहित्य एवं कला, अर्थनीति, समाज से ही नहीं बल्कि हमारे पूरे अस्तित्व से है। भोपालकाण्ड तो प्रदूषण-नियंत्रण के अनुत्तरदायित्व की पराकाष्ठा है। किन्तु पर्यावरण विनाश के अनेक सूक्ष्म एवं अदृश्य प्रक्रियाओं में हमारी पूरी उपेक्षा करती हुई हमारी प्राकृतिक संपदा लुप्त जा रही है। हर साल भारत में १० लाख हेक्टेयर जंगल नष्ट हो रहे हैं, जीवनदायिनी नदियों के उद्गम स्थल पर्वत मालाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा है, नदियों के जल बड़े-बड़े बांधों में कैद किये जा रहे हैं। आर्थिक उन्नति एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध के नाम पर वन, चारागाह, नदी, तालाब आदि का संगठित रूप से दुरुपयोग किया जा रहा है। जब तक समाज अपनी प्राकृतिक संपदा के साथ अपने सम्बन्ध फिर से परिभाषित नहीं करेगा और उससे जुड़े लोग प्रकृति की सार-संभाल फिर से अपने हाथों में नहीं लेंगे, तब तक उसकी रक्षा असंभव है।

लेकिन पर्यावरण-संरक्षण के लिये एक विशेष सामाजिक-संस्कृति एवं एक विशिष्ट जीवन-पद्धति आवश्यक है। मूल प्रश्न है कि मनुष्य का प्रकृति से कैसा सम्बन्ध होगा? क्या हम उसके साथ मैत्री का सम्बन्ध रखेंगे या उसके साथ संघर्ष कर उसका शोषण करते रहेंगे? सन्त वर्बे बेकर (कनाडा) ने जो “वृक्ष-पूजक” कहे जाते थे, कहा कि मैं वृक्ष की इसलिये पूजा करता हूँ कि उसमें मुझे जीव का दर्शन होता है। आज दुनिया में

इतनी परती भूमि नहीं है कि हम उससे पशुओं को खिला सकें और फिर उन्हीं पशुओं को खाकर जीयें। हरीतिमा पृथ्वी का आवरण या त्वचा के समान है। विश्व के तीस बिलियन एकड़ भूमि में से ९ बिलियन रेगिस्तान वन चुके हैं। जिसका अर्थ है लगभग एक तिहाई भूमि निर्वस्त्र या त्वचा विहीन लहु-बुहान है। जिस मनुष्य के शरीर का एक तिहाई चमड़ा उधेड़ दिया गया हो, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। उसी प्रकार वृक्षों एवं वनों के रूप में पृथ्वी की एक तिहाई चमड़ी उधेड़ी जा चुकी है इसीलिये उसका अंत निकट है।

आज प्रकृति एवं मनुष्य के बीच का संघर्ष विनाश के कगार पर पहुंच चुका है। रासायनिक द्रव्यों ने कीड़े-मकोड़े को विनष्ट कर डाला। खेत-खलिहान, बाग-बगीचे, जंगल, सजी एवं फल आदि सभी चीजों पर कीटनाशक दवाओं का इतना छिड़काव हुआ है कि सम्पूर्ण प्राणी जगत् का ही उच्छेद होता जा रहा है। प्रदूषण के मध्य में हम जी रहे हैं। पृथ्वी को हमने रासायनिक उर्वरकों से निर्जीव कर दिया है, वायु भी प्रदूषित हो चुकी है, जल, भोजन आदि सब चीजें प्रदूषित तो हैं ही। औद्योगिक प्रतिष्ठानों से जो विषाक्त द्रव्य बाहर आते हैं, उनसे वनस्पति एवं प्राणी-जगत् प्रलयकारी विनाश के मुख में जा रहा है। पर्यावरण के जागतिक संकट का सामना करने के लिये यह आवश्यक हो गया है हम जीव-जगत् के संरक्षण पर ध्यान दें।

निरामिष आहार अहिंसा-भावना की ही अभिव्यक्ति है जो जीव और जीवन के प्रति आदर एवं निष्ठा का भाव है। निरामिष आहार का नैसर्गिक जीवन से स्वतः सम्बन्ध हो जाता है। जिस प्रकार निरामिष जीवन-दर्शन "जीओ और जीने दो" की भावना पर आधारित है उसी प्रकार पर्यावरण भी इस दर्शन पर आश्रित है। प्रकृति में अनेकानेक जीव एवं उद्भिज हैं। हमें प्रकृति के साधनों का इतनी निर्दयता से उपयोग नहीं करना चाहिये कि पर्यावरण की क्षति हो। प्रकृति, माता की तरह इतनी उदार है कि वह हमारी सच्ची आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती है, हां हमारे भोग की अदम्य लालसा को वह भले नहीं पूरा करे या उसे पूरा करने में पर्यावरण को क्षति पहुंचे।

प्रकृति में मनुष्य, पशु-पक्षी एवं वनस्पति का एक अटूट सम्बन्ध है। मानव ही अपने लोभ-लालच के लिये इस संतुलन को बिगाड़ देता है। पशु एवं मानव का सान्निध्य संस्कृति का परम्परागत शाश्वत सत्य है। पशु-पक्षी मानव को केवल उत्पादन एवं भोजन प्राप्ति में ही नहीं बल्कि कई प्रकार के मनोवैज्ञानिक मनोरंजन आदि भी प्रदान करते हैं। दोनों के बीच एक संतुलित सम्बन्ध रखना एक जैविक आवश्यकता है। अखिल अमरीकी स्वास्थ्य संगठन

भी मानव, पशु एवं पर्यावरण के बीच सामंजस्यपूर्ण सहअस्तित्व बनाने एवं उसे कायम रखने का प्रयत्न कर रहा है। [देखिये पेड़ों अचा का लेख— “ए बैलेन्सड रिलेशनशिप” ‘वर्ल्ड कांफ्रेंस आन अहिंसा, एनीमल प्रोटेक्शन एन्ड ह्यूमैन न्यूट्रीशन, पृ० ७-१०] इसी कांफ्रेंस में जेडनेक मत्यास (लेख— एनिमल्स एन्ड मैन, वही, पृ० १-७) में भी यही दर्शाया है कि मानव-स्वास्थ्य एवं कल्याण बहुत कुछ पशुओं पर आधारित है। श्री एस० एम० जैन ने अपने लेख (फारेस्ट फार फुड एन्ड डेवलपमेंट’ पृ० १२-१८, वही) में यह सिद्ध किया है कि जंगलों के कट जाने से भू-क्षरण होता है, मिट्टी में नमक का प्राधान्य होने से वह अनुवरक होती है। ७००० हजार वर्ष पूर्व एशिया माइनर एवं मिश्र में सभ्यता आयी किन्तु जंगलों के विनाश के कारण वह रेगिस्तान में परिवर्तित हो गयी।” विश्व स्वास्थ्य संगठन की “विश्व स्वास्थ्य” नामक पत्रिका में भी मानव एवं पशु के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध मानव-स्वास्थ्य एवं पर्यावरण संरक्षण के लिये भी जरूरी है। (वही, पृ० २३-२४)

आर्थिक दृष्टि से भी निरामिष आहार एवं पर्यावरण का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहा जा सकता है कि यदि पशुओं को खाय़ा नहीं जाए तो पशुओं की तादाद अत्यधिक हो जाएगी और मनुष्य को ही भूखा रहना होगा। यह ठीक है कि आज मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये अपनी आवश्यकताओं से बहुत अधिक मांस देने वाले पशुओं को पालते हैं जिनसे प्रकृति का विनाश होता है। यह समझना चाहिये कि जितनी जमीन की भोजन के लिये एक मनुष्य को आवश्यकता होती है, उससे कहीं अधिक जमीन एक जानवर को चाहिये। औसत ढंग से एक निरामिष आहारी व्यक्ति को यदि १ एकड़ जमीन की जरूरत होती है तो मांसाहारी को ६ एकड़, क्योंकि वह तो पशुओं का मांस खाता है और पशु-पालन के लिये मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक जमीन चाहिये। इस दृष्टि से खाद्य संकट एवं बढ़ती आवादी की समस्याओं के समाधान के लिये निरामिष आहार पर विचार जरूरी है।

मनुष्य की दीर्घकालीन भलाई के लिये पर्यावरण की रक्षा आवश्यक है। “दीमक से लेकर शेर तक सभी बिना किसी को चोट पहुंचाये जीने का गुर जानते हैं। इन्हीं की तरह लोग भी अपने निकटतम पर्यावरण से जुड़कर बिना उसे नुकसान पहुंचाये जीने की कला जानते रहे हैं।” (हमारा-पर्यावरण दिल्ली : गांधी शांति प्रतिष्ठान, १९८८, पृ० २२५) मांसाहार ने भी इस सन्तुलन को बिगाड़ा है। यह कहना कि जानवरों के मांस से प्रोटीन मिलता है इसलिये उसका भक्षण हो, गलत है। पोषण शास्त्री अब इस बात पर सहमत हो गये हैं कि वनस्पति और जानवरों से प्राप्त प्रोटीन में कोई भेद नहीं है। उससे अस्वस्थ जानवरों के मांस भक्षण का कुप्रभाव हमारे स्नायु

तंत्र पर भी पड़ता है। मृत्यु पूर्व तथा मृत्यु के समय जानवर भावनात्मक तनाव के चरमोत्कर्ष पर होते हैं। इन जानवरों के मांस को तनाव कारक हारमोन, लैक्टिक अम्लतया टैक्सिक व्यक्त पदार्थों से युक्त रक्त मिलता रहता है जिससे कि पकाये गये मांस में सुसुचिपूर्ण सुगंध का निर्माण होता है। असल में मानव और प्रकृति के बीच का सम्बन्ध इतना नाजुक है कि हम वनस्पति पशु-पक्षी-मानव को अलग-अलग कर संतुलन नहीं रख सकते हैं। निरामिष आहार केवल जैविक ही नहीं सामाजिक-आर्थिक अनिवार्यता है। दक्षिण एशिया एवं केन्द्रीय अमेरिका की घनी आबादी वाले इलाकों में निरामिष आहार ही एकमात्र उपाय रह गया है क्योंकि जानवरों को रखने के लिये ज्यादा जमीन की जरूरत होगी। (डॉ० सुब्रह्मण्यं, का लेख १९९१ विश्व निरामिष कांग्रेस, १९६७, पृ० २२९) फिर मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ने पर यांत्रिक कृषि को प्रोत्साहन मिलेगा और यांत्रिक कृषि का अर्थ है डीजल-मोबिल की खपत और उससे वायु-प्रदूषण। यही नहीं जब यांत्रिक कृषि होगी तो रासायनिक खाद और फिर कीड़े मारने के लिये तरह-तरह के रासायनिक एवं जहरीली दवाओं का प्रयोग न केवल वातावरण को प्रदूषित करेगा बल्कि उस जमीन पर उपजने वाले धन-धान्य, फल-फूलों सब को विषाक्त कर देंगे। फिर तो हजारों-हजारों मेंढक मरेगे, अनगिनत मिट्टी के कीड़े-मकोड़े समाप्त हो जायेंगे जो किसी न किसी रूप में प्रकृति संतुलन में सहायक होते हैं। मृत जानवरों का मांस अक्सर भोजन में विषाक्तीकरण पैदा करता है। विषाक्त भोजन का तीन चौथाई हिस्सा पशु-आहार में पाये जाने वाले जीवाणुओं के कारण दूषित होता है। सालोनेला के कुछ जीवाणु प्रमुख रूप से भोजन को विषाक्त करने के लिये जिम्मेदार होते हैं जो जल्दी मरते नहीं। यह दुर्भाग्य कि बात है कि मांसाहार के कारण इधर जब विश्व की आधी आबादी अन्नाभाव से भूखी रहती है, उधर विश्व के अन्न का आधा भाग जानवरों को खिलाया जाता है कि उनका मांस भोजन के लिये प्राप्त हो सके।

राष्ट्रीय शोध परिषद् की खाद्य एवं पोषण समिति ने हिसाब करके यह बताया है कि पेड़-पौधे वाली फसल के लिये हमें निश्चित कैलरी-शक्ति प्राप्त के लिये जितनी भूमि चाहिये, पशुओं का मांस प्राप्त करने के लिये उससे छः गुनी चाहिये। जानवरों को चरने के लिये जो फसल लगाये जाते हैं, उन्हें तुरन्त उखाड़ना पड़ता है या उन्हें मवेशी चर जाते हैं, जबकि यदि वहां वृक्षादि लगाये जायें तो जमीन बचेगी और जल्दी खराब नहीं होगी। इस प्रकार भी मांसाहार पर्यावरण का संकट पैदा करता है। जानवर के मांस के लोभ में हम जमीन का क्षरण करते हैं एवं वृक्षादि नहीं लगाकर पृथ्वी को रेगिस्तान बनाने के दुष्चक्र में फँसते हैं।

उपसाहारः—दलाईलामा ने कहा कि अपनी जिह्वा के स्वाद के लिये निर्दोष प्राणियों का बध सचमुच एक सांस्कृतिक अपराध है। हर प्राणी को अपनी जान प्यारी होती है। फिर मांसाहार के बिना भी तो मनुष्य जीवित रह ही सकता है। जिस दिन खिड़की से एक मुर्गी को पकड़ने वाले से जान बचाने के लिये बेतरह परेशान होकर भागते देखा, गुरुदेव की करुणा जागृत हुई और उसी दिन से वे निरामिष आहारी बन गये। जार्ज बनार्डशा के अनुसार आध्यात्मिक मनोवृत्ति का व्यक्ति कभी भी मरे हुए प्राणियों का मांस नहीं खाएगा क्योंकि इसके बिना भी उसके जीवन की रक्षा की जा सकती है। अतः वैज्ञानिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं सौंदर्य बोध दृष्टियों से निरामिष आहार श्रेयस्कर है। भविष्य भी निरामिष आहार का ही है क्योंकि पृथ्वी की पांच अरब जनसंख्या को हम जिस भोजन पर पाल रहें हैं, वह संभव नहीं। बढ़ती हुई मानव आबादी यदि मांसाहार की ओर अधिक प्रवृत्त होगी तो पशुओं के लिये अधिक जगह चाहिये। आदमस्मिथ ने अपनी प्रख्यात पुस्तक “वेल्थ आफ नेशनस” में कहा था कि पशुओं को खिला पिलाकर उन्हें अपने भोजन के लिये तैयार करना अत्यन्त अनुपयोगी है। मांसाहार पर पृथ्वी की इतनी आबादी को अधिक दिनों तक पालन करना मुश्किल है।

निरामिष आहार मानव को निसर्ग से जोड़ता है इसीलिये निसर्ग की रक्षा भी इससे जुड़ी हुई है। मनुष्यों का आहार जितना ही अधिक कन्द, फल, मूल, शाक-सब्जी पर आधारित होगा, पर्यावरण का संकट कम होता जाएगा। सभ्यता के नाम पर जब-जब और जहां-जहां हमने प्रकृति पर अत्याचार किये हैं, उस सभ्यता का नामोनिशान मिट गया है। पृथ्वी मरूभूमि में परिवर्तित हो गयी है। वर्षा रूठ जाती है। भूमि क्षरण होने लगती है और मानव-अस्तित्व का संकट बढ़ जाता है।

खण्ड-४
समाज एवं संस्कृति

समन्वय की साधना में जैन-संस्कृति का योगदान

समन्वय भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च साधना रही है। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ने भारत को मानव-संस्कृतियों का सागर कहा है और इस पुण्य-तीर्थ में माता के मंगलघट को भर देने के लिए सबों का आह्वान किया है। साधना जितनी ही श्रेष्ठ होती है, उसकी यंत्रणा उतनी ही दुस्सह होती है। इसलिए भारत को इस समन्वय-साधना के हेतु समय-समय पर अपार यंत्रणा सहनी पड़ी है। लगता है, समन्वयरूपी अमृत प्राप्त करने के लिए गरल पान करना ही होता है।

शायद, समन्वय हमारी संस्कृति की अनिवार्यता है। हमारा रूप-रंग भाषा-वेश-भूषा, रस्म-रिवाज, धार्मिक आस्था और विश्वास आदि कभी भी एक जैसा नहीं रहा। आर्यों एवं अनार्यों के बीच संघर्ष चलने के बाद ही हमारी जीवन-पद्धति ने निर्णय किया होगा कि समन्वय ही मानव-जीवन का आदर्श हो सकता है। फिर तो आर्यों एवं द्रविड़ों के संयोग से एक भव्य भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ। इसी तरह पौर और जानपद संस्कृतियों के साथ उत्कृष्ट आरण्यक-संस्कृति का भी हम पर प्रभाव पड़ा। अरण्य के साथ सम्बन्ध होने से वृक्ष, वनस्पति का गुणधर्म मालूम होने पर आहार और आरोग्य में प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग बढ़ा। चन्द्र किरणों के वनस्पति पर होने वाले प्रभावों का सूक्ष्म अध्ययन और पशु तथा मनुष्यों के बीच मूलभूत एकता की ओर ध्यान भी गया और अनुभव हुआ कि सर्वत्र एक ही चैतन्य है। शायद, यहीं पर हमें अहिंसा का साक्षात्कार हुआ। मांसाहार का परित्याग कर हमने पशु-जगत् और मानव-जगत् के बीच समन्वय की दिशा में एक प्रभावकारी कदम बढ़ाया है। इसका अर्थ यह नहीं कि समाज में एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शोषण बन्द हो गया या ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच युद्ध हुए ही नहीं या यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि नहीं हुई। लेकिन लोगों का समन्वय स्वभाव प्रेम सहयोग, क्षमा और सहिष्णुता का ही रहा। साम, दाम, भेद और उपेक्षा आदि आजमाने के बाद ही दंड का प्रयोग होता था। आक्रमणकारी शक-शीथियन, गुर्जर, प्रतिहार आदि को भी हमने अपनी संस्कृति में समावेश कर लिया। हमने किसी देश के भू-भाग को जीतने के लिए कभी आक्रमण नहीं किया। आक्रमणकारियों को भी बार-बार क्षमा किया। हमारे यहां जितने युद्ध हुए वे प्रायः अन्तर-अन्तर के हुए, जिनमें राजाओं के ईर्ष्या-द्वेष, लोभ और महत्वाकांक्षा के बीच संघर्ष था। समाज का बहुत बड़ा भाग तो अछूता

ही रह जाता था। कभी-कभी दो बड़ी-बड़ी सेनाओं को युद्धाग्नि में भोंकने के बदले दोनों पक्षों के दो प्रधान वीरों के बीच ही द्वन्द्व-युद्ध से विजय-पराजय का निपटारा करा लिया जाता था। भीम-जरासंध के बीच इसी प्रकार के द्वन्द्व युद्ध से दो जातियों का विग्रह बच गया। संक्षेप में, भारतीय संस्कृति ने विग्रह टालकर समन्वय की साधना के अनेक प्रयत्न किए हैं। देव-निर्माण की प्रयोगशाला में भी बहुदेववाद के अन्तर्गत असंख्य देवों का जल-थल-नभ के अनुसार वर्गीकरण, “त्रिमूर्ति” एवं “विश्वेदेवा” की कल्पना और फिर “एकदेव प्रजापति” एवं “विश्वकर्मा” का सृजन और अंत में “एकं सद्द्विप्रा बहुधा वदन्ति” कहकर अद्वैत तक पहुंचना ही समन्वय-साधना की पराकाष्ठा है। आद्य शंकराचार्य ने पंचायतन-पूजा में सभी देवी-देवताओं की पूजा का अन्तर्भाव कर तथा पीछे मध्ययुगीन संतों ने सर्व-धर्म समभाव की भावना को उपस्थित कर वस्तुतः आत्मौपम्य भाव या विश्वात्मैक्य भाव प्रकट किया है। और तो और, भारतीय संस्कृति में इसी प्रकार वेद और ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को स्पष्ट अस्वीकार करने वाले भगवान् बुद्ध को तथा जैन धर्म के जन्मदाता भगवान् ऋषभदेव को अवतार (श्रीमद्भागवत, ५।२-६ अष्टम अवतार) के रूप में स्वीकार करना समन्वय-साधना की दिशा में ही एक उदात्त प्रयास है।

लेकिन भारतीय संस्कृति को तो भगवान् ऋषभदेव ने मानो समय का समग्र-दर्शन ही प्रदान कर दिया। समस्त आत्माओं को स्वतंत्र परिपूर्ण और अखंड मौलिक द्रव्य मानकर अपनी तरह समस्त जगत् के प्राणियों को जीविन रहने का समान अधिकार स्वीकार करना ही अहिंसा के सर्वोदयी स्वरूप की शिक्षा है। विचार के क्षेत्र में अहिंसा को मानसरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेकांत आया जो वस्तु-विचार के क्षेत्र में दृष्टि की एकांगिता और संकीर्णता से उत्पन्न होने वाले मतभेदों को हटाकर मानस-समन्वय उत्पन्न होता है जिससे वीतराग चित्त की उद्भावना के लिए अनुकूलता पैदा होती है। इसी तरह वचन की निर्दोष तथा अनेकांत को अभिव्यक्त करनेवाली भाषा-शैली के रूप में स्याद्वाद्वाचनिक-समन्वय की साधना की ही अभियंत्रणा है, जहां स्ववाच्य को प्रधानता देता हुआ अन्य अंशों की उपेक्षा नहीं होती। इसीलिए तो धर्मतीर्थकरों की स्याद्वादी के रूप में स्तुति की जाती है।

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।

ऋषभादि महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

लघीयस्त्रीय श्लोक १

अहिंसा की साधना भारतीय-संस्कृति के लिए नई नहीं है लेकिन जैन संस्कृति ने अहिंसा को निःश्रेयस के साधनों में इसे सबसे प्रमुख मानकर इसका

महत्त्व बढ़ा दिया। मीमांसा आदि वैदिक दर्शनों में हिंसा प्रधान यज्ञ यागादिकर्म को साधन मानकर अहिंसा की उपेक्षा कर दी गयी थी। श्रमण-संस्कृति साध्य के साथ साधन की शुचिता पर भी जोर देती थी इसीलिए ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के परस्पर शाश्वत विरोध पर पतंजलि को अपने महाभाष्य में “अहि-नकुल” और “गो-व्याघ्र” की उपमायें देनी पड़ीं। खैर, यह जैन संस्कृति की अहिंसा-भावना का ही प्रभाव है कि ब्राह्मण परम्परा में यज्ञीय-हिंसा का समर्थन केवल परम्परागत चर्चा का विषय मात्र रह गया है लेकिन लोक-व्यवहार में यज्ञीय-हिंसा प्रायः लुप्त होकर “सर्वभूतहितेरताः” के मूल्य पर अवस्थित रही। ऋषभदेव के समान ही कपिल और पतंजलि द्वारा जिस “आत्मोपम्य” भावना तथा तन्मूलक अहिंसा-धर्म की प्रतिष्ठा का पोषण हुआ है उसमें अद्वितीय समानता है। ब्राह्मण-संस्कृति ने तप द्वारा और श्रमण-संस्कृति ने चित्त-शुद्धि द्वारा साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा की प्रतिष्ठा की है। इसीलिए ब्राह्मण-पुराणों में ऋषभदेव का उग्र तपस्वी के रूप में तथा जैन वाङ्मय में कपिल का अत्यधिक उल्लेख है। इस प्रकार साम्य सिद्धि मूलक अहिंसा को समन्वय धर्म के रूप में दोनों ने स्वीकार किया है जिस शाखा ने साम्य-सिद्धि के लिए अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया है। परिवार तक के बंधन को अहिंसा या पूर्ण साम्य की सिद्धि के लिए व्यवधान माना, वही निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इन्हीं के प्रवर्तक नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ हुए।

असल में पूर्ण प्राणभूत साम्य-वृद्धि ही अहिंसा का आधार है। जैन श्रुत रूप में द्वादशांगी या चतुर्दशपूर्व में “सामाइय” (सामयिक) का स्थान प्रथम है जो आचारांग-सूत्र कहलाता है। इसमें साम्य-सिद्धि के लिए सम, शम और श्रम पर बल दिया जाता है। जिस प्रकार संध्या-वंदन ब्राह्मण परम्परा का आवश्यक अंग है उसी प्रकार जैन परम्परा में गृहस्थ एवं त्यागी सबों के लिए छः आवश्यक कर्म हैं जिनमें मुख्य “सामाइय” है—“सामाइय” है—करेमि भंते सामाइयं।” सातवीं सदी में सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् जिन भद्रगणी ने “सामाइय” की प्रतिष्ठा के लिए “विशेषावश्यक भाष्य” नामक ग्रंथ लिखकर धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र-तीनों को ही ‘सामाइय’ बताया। ब्राह्मण-परम्परा में भी साम्यदृष्टि के प्रतीक को “ब्रह्म” कहकर साम्यमूलक आचार-विचार को ब्रह्मचर्य कहा है। बौद्ध परम्परा में मैत्री मुदिता, करुणादि भावनाओं को ही ब्रह्म विचार माना गया है। धम्मपद (ब्राह्मणवग्ग-२६) एवं महाभारत के शान्तिपर्व की तरह जैन (उत्तराध्ययन, २५) में समत्व करने वाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच समन्वय करने की चेष्टा की गयी है।

यह साम्य-दृष्टि ही जैन-संस्कृति का हृदय है जो विचार-वाणी और

व्यवहार में अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी है।

व्यवहार-साम्य :—जैन संस्कृति का सब आचार-व्यवहार साम्यदृष्टि मूलक अहिंसा के पास ही निर्मित हुआ है। मनुष्य, पशु-पक्षी कीट-पतंग ही नहीं, वनस्पति और पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणियों तक की हिंसा से आत्मौपम्य या प्राणभूत अहिंसा भावना को चोट पहुंचती है। इसीकी व्यवस्था के लिए जैन परम्परा में चार विधायें फलित हुई हैं, जिनके आधार पर ही ज्ञान प्राप्त कर हम आचार की अहिंसा साध सकते हैं—आत्म-मीमांसा, कर्म-मीमांसा, चरित्र-मीमांसा एवं लोक-मीमांसा।

(क) **आत्म मीमांसा**—आत्मा का विचार जैन दर्शन में उपनिषद् वेदान्त के ब्रह्म की तरह ही सर्वग्राही है। जीव-समानता के सैद्धान्तिक तात्त्विक विवेचन को जीवन-व्यवहार में यथासंभव उतारना ही अहिंसा है। सृष्टि के कण-कण में आभा व्याप्त है तो फिर हिंसा का स्थान ही कहां है? यदि समानता की अनुभूति ही नहीं हो तो फिर साम्य का सिद्धांत ही भूठा है। आचारंग में कहा ही गया है कि “जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो, वैसा ही पर-दुःख का अनुभव करो।”

उपनिषद् और वेदान्त भी अहिंसा का समर्थन अद्वैत के आधार पर करता है क्योंकि सारे जीव ब्रह्म के रूप हैं। सर्वं खलु इदं ब्रह्म ! ईशावास्य-मिदं सर्वम्। ‘तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि’ तो खैर अद्वैत की पराकाष्ठा है। लेकिन विशिष्टाद्वैत में भी जीव ईश्वर का ही अंश है। अद्वैत-परम्परा जीव-भेद को मिथ्या मानकर अहिंसा का उद्बोधन करती है। जैन परम्परा में जीवात्मा का वास्तविक भेद स्वीकार कर भी तात्त्विक रूप से सबों को एक मानकर अहिंसा-धर्म को प्रतिष्ठित किया जाता है।

(ख) **कर्म मीमांसा**—प्रश्न है जब तात्त्विक रूप से सब जीव समान हैं तो फिर उनमें विषमता क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए ही कर्मवाद लाया गया है। जैसा कर्म होगा वैसा फल मिलेगा। वर्तमान का निर्माण अतीत के आधार पर तथा अनागत का निर्धारण वर्तमान के आधार पर होगा। यही कार्यकारणवाद भी है। यही पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का आधार है। अपने एवं पराये की वास्तविक प्रतीति न होना ही जैन दृष्टि से दर्शन-मोह है जिसे सांख्य-बौद्ध-अद्वैत परम्परा में अविद्या या अज्ञान कहा गया है। यद्यपि राग-द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं लेकिन सबका यही अज्ञान या अविद्या या दर्शन-मोह है। आत्मा जब अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता है तो वह राग-द्वेष के कारण हिंसा करता है।

(ग) **चरित्र मीमांसा**—चरित्र का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है ही पर व्यक्तिगत रूप से यह सम्बन्ध सादि और सान्त सा है। आत्मा के साथ कर्म के प्रथम सम्बन्ध

का प्रश्न व्यर्थ है। जैन परम्परा की तरह ही उसे न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-वेदान्त-बौद्ध सबों ने मान लिया है। ब्रह्म के साथ माया, आत्मा के साथ अविद्या का सम्बन्ध अनादि है। सर्वथा कर्ममुक्ति से ही आत्मा का पूर्ण शुद्धरूप प्रकट होता है। सर्वथा कर्म छूट जाने से आत्मा का भास्वर एवं शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है एवं राग-द्वेष जड़ से मुक्त हो जाता है। इस तरह चारित्र्य का कार्य वैषम्य के कारणों को दूर करना है जो संवर, निजंरा आदि हैं। आध्यात्मिक जीवन का विकास अन्तर चारित्र के विकास-क्रम पर निर्भर है। जैन परम्परा में चौदह गुणस्थान में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तीन काय हैं। अंतिम भूमिका में रागद्वेष का उच्छेद हो जाता है और अहिंसा तथा वीतरागत्व प्रकट होता है।

(घ) लोक-मीमांसा :—जैन परम्परा में चेतन और अचेतन के परस्पर प्रभाव का ही यह संसार है। जैन परंपरा न्याय-वैशेषिक की तरह परमाणुवादी है किंतु इसका परमाणु न्याय-वैशेषिक की तरह कूटस्थ नहीं बल्कि सांख्य की तरह परिणामी है। एक ही प्रकार के परमाणु से सब तरह की चीजें बनती हैं और वह इतना सूक्ष्म है कि सांख्य की प्रकृति की तरह अव्यक्त हो जाता है। जैन परंपरा का अनंत परमाणुवाद प्राचीन सांख्य सम्मत पुरुष बहुत्व रूप प्रकृति बहुत्ववाद से बहुत दूर नहीं है। जैन परंपरा सांख्य-योग-मीमांसा की तरह लोक-प्रवाह को अनादि अनंत मानती है। यानी कर्त्ता, संहर्त्ता रूप से ईश्वर जैसी सत्ता को नहीं माना गया है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि का आप ही कर्त्ता और अपना ही मुक्तिदाता है। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है।

२. विचार में साम्य : अनेकान्त :

जैन परंपरा विचारों की सत्यलक्षी संग्रह होने के कारण किसी भी विचार सरणी की उपेक्षा नहीं करना चाहती है। यही कारण है विचार विकास के लिए संग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह ऋजुसूत्रनय रूप से बौद्ध क्षणिकवाद तथा वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद—इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ।

संक्षेप में अनेकांत-दृष्टि इतनी सर्व-संग्राहक है कि इसमें समन्वय की अपूर्व क्षमता है। यही उसका हृदय है। जैन परंपरा में सत्य प्रकाशन की शैली का ही नाम अनेकांत है। अनेकांत के मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप प्रतीत होता है, वही सत्य कहलाता है। एक तो वस्तु स्वरूप इतना संश्लिष्ट है कि उसका भी कालबाधित ज्ञान संभव नहीं और यदि हो भी जाय तो उसका कथन करना

कठिन है। हम अपनी दृष्टि से यथार्थ का वर्णन कर सकते हैं लेकिन वह अपूर्ण ही होगा। अतः सत्यदर्शियों में भी भेद तो होंगे ही क्योंकि वे सब अपूर्ण हैं। इसलिए राग-द्वेष से मुक्त होकर तेजस्वी मध्यस्थ भाव रखकर निरंतर जिज्ञासा करते जाना एवं विरोधी पक्षों पर आदर पूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष की भी तीव्र समालोचक दृष्टि रखना और अंत में अपनी प्रज्ञा से विरोधों का समन्वय करना एवं जहाँ अपनी भूल हो वहाँ मिथ्याभिमान परित्याग कर आगे बढ़ना चाहिए।

इसी अनेकांत से दो सिद्धांत फलित हुए—नयवाद और सप्तभंगी। विचार की विभिन्न पद्धतियों को समन्वय करने का काम नयवाद करता है और किसी वस्तु के विषय में प्रचलित विरोधी कथनों का समन्वय सप्तभंगी का काम है। लेकिन दुर्भाग्य है कि उदारता की पराकाष्ठा पर पहुँचकर सत्य को प्रकाशित करने वाले इस अनेकांत दर्शन को भी जैनेतर विद्वानों ने साम्प्रदायिक स्वरूप में ग्रहण कर उसे खंडन करने का प्रयास किया है। बादरायण ने तो “नैकस्मिन् असंभवात्” (२।२।३३) सूत्र की रचना कर डाली, जिस पर शंकर, रामानुज से लेकर डा० राधाकृष्णन एवं पं० बलदेव उपाध्याय तक वेदांत के आचार्यों ने दिग्भ्रमित भाष्य कर डाले। फिर तो वसुबन्धु, दिंडनाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, अर्चट, शांतिरक्षित आदि प्रभावशाली बौद्धों ने भी अनेकांतवाद पर निर्मम प्रहार किया है। फिर तो जैन विचारकों को आत्मरक्षा के लिए उनका सामना करना ही था। इसी तरह एक प्रचंड विचार-संघर्ष का जन्म हुआ और अनेकांत-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ। लेकिन खंडन-मंडन के बावजूद भी अनेकांत-दृष्टि का भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। जैन-विरोधी प्रखर आचार्य रामानुज ने मायावाद के विरोध में भले ही उपनिषद् का सहारा लिया लेकिन विशिष्टाद्वैत के निरूपण में अनेकांत-दृष्टि का उपयोग किया। ब्रह्म चित् भी है, अचित् भी—ऐसा सोच वस्तुतः अनेकांत दृष्टि का ही परिचायक है। पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभ ने शुद्धाद्वैत में और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत में दैत और अद्वैत दोनों का समन्वय किया—यह भी समन्वयकारिणी अनेकान्त दृष्टि ही है।

यों तो वेद-उपनिषद् की भी विवेचना की जाय तो उनके वचनों को समझाने के लिए अनेकांत-दृष्टि का ही सहारा मिलेगा। नासदीय सूक्त में जगत के कारण को “न सत्, न असत्” कहा गया है। शायद शब्द में इतनी शक्ति नहीं कि उस परमतत्त्व को प्रकाशित कर सके। कहीं पर असत् से सत् की सृष्टि बनने की बात है—“सदेव सोम्येदमग्र आसीत्—छान्दोग्य ६/२ ईशावस्य में तो इस परम तत्त्व वर्णन में ‘तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्ति के’ आदि कहकर और भी स्पष्ट किया गया है। पिप्पलादऋषि के अनुसार प्रजापति से सृष्टि हुई (प्रश्नोपनिषद् १।३।१३), किसी के अनुसार जल, किसी

के अनुसार वायु, अग्नि, आकाश, प्राण को विश्व का मूल कारण माना गया है। (बृहदारण्यक ५।५।१, छान्दोग्य, ८।३, कठ, २।५।९ छान्दोग्य १।९।१, १।११।५ आदि। इन सबों का अर्थ है कि विश्व के कारण की जिज्ञासा से अनेक मतवादों का प्रादुर्भाव हुआ जिसका स्पष्ट संकेत वेद-उपनिषद् में मिलता है। मतों के इस जंजाल को भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है मानो जैसे सभी नदियां समुद्र में विलीन हो जाती हैं—

उदधादिव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।

न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्त्यासु सरिस्त्ववोदधिः ॥

—सिद्धसेनद्वित्रिशिका, ४।१५

बुद्ध के विभज्यवाद और मध्यम प्रतिपदा के सिद्धांत पर भी हम अनेकांत दृष्टि का स्पर्श पाते हैं जब अति के मध्य में रहने का आदेश मिलता है। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, आदि द्वन्द्वों के बीच समन्वय किया गया है। भगवान् बुद्ध द्वारा लोक संज्ञा, लोक आसक्ति, लोक-व्यवहार एक लोक-प्रज्ञप्ति का आश्रय लेने का स्पष्ट संकेत है। बुद्ध ने कहा है—हे माणवक ! मैं यहां विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं।" (मज्झिमनिकाय-सुत्त ९९)। भगवान् बुद्ध का विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्र में था किंतु महावीर का क्षेत्र व्यापक था। इसी कारण विभज्यवादी होते हुए भी बौद्ध दर्शन अनेकांत की ओर काफी अग्रसर हुआ है। महावीर ने विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक बनाया है एवं विरोधी धर्मों के अनेक अंतों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से घटाया है। इसी कारण विभज्यवाद का अर्थ अनेकांतवाद या स्याद्वाद हुआ। विरोधी धर्मों को स्वीकार करना विभज्यवाद का मूलाधार है जब कि तिर्यग् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकार के सामान्यों के पर्यायों में विरोधी धर्मों का स्वीकार करना अनेकांतवाद का मूलाधार है। अतः इस दृष्टि से अनेकांतवाद विभज्यवाद का ही विकसित रूप है। बुद्ध की समन्वय-भावना सिंह सेनापति के संवाद से स्पष्ट होती है जब उन्होंने अपने को "अक्रियावादी और क्रियावादी" दोनों बताया। (विनय पिटक, महावग्ग—६।३१)

व्यवहार में अनेकांत का उपयोग नहीं होने का परिणाम है हिंसा का विस्तार। अनेकांत और उसकी आधारभूत अहिंसा का ही परिणाम है कि जैन अन्य कई धर्मों की तरह कभी भी विस्तारवादी नहीं बना। ज्ञान, विचार, आचरण और वाणी के किसी भी एक विषय को केवल संकीर्ण दृष्टि की अपेक्षा अनेक दृष्टियों से और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से विचारने और आचरण करने का जैन-संस्कृति ने आग्रह रखा है। वस्तुतः अनेकांत जैन-संस्कृति की जीवन-पद्धति है जो सभी दिशाओं से खुला एक मानस-चक्षु है। उसके आगे-पीछे, भीतर-बाहर सर्वत्र ही सत्य का प्रभाव है। अतः यह कोई

कल्पना नहीं परंतु सत्यसिद्ध तत्त्वज्ञान है। जीवित अनेकांत पुस्तकों में नहीं, जीवन में मिलेगा जब हम दूसरे विषयों को सब ओर से तटस्थ रूप से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित होंगे। विचारों की जितनी तटस्थता, स्पष्टता, निस्पृहता अधिक होगी, अनेकांत का बल उतना ही अधिक होगा। हमें यह सोचना चाहिए कि समन्वय जीवन की एक अनिवार्य विवशता है। लेकिन बिना समझे-बूझे या दूसरों की देखा-देखी से लाया जाने वाला अनेकांत न तो तेजस्वी होगा, न उसमें प्राण ही होगा। अतः हमें मानस अहिंसा के रूप में अनेकांत को स्वीकार कर समन्वय की साधना को तेजस्वी बनाना चाहिए।

विश्व का विचार करने वाली दो परस्पर भिन्न दृष्टियां हैं—एक है सामान्यगामिनी दृष्टि, दूसरी है विशेषगामिनी दृष्टि। सामान्यगामिनी दृष्टि शुरू में तो सारे विश्व में समानता देखती है और धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते एकता की भूमिका पर आती है, जबकि विशेषगामिनी दृष्टि केवल विभेद ही विभेद देखती है। भेदवाद-अभेदवाद, सद्वाद-असद्वाद, निर्वचनीयवाद-आनवचनीयवाद, हेतुवाद-अहेतुवाद आदि का समन्वय अनेकांत-दृष्टि से संभव है। प्रत्येक युक्तिवाद अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक-अमुक सीमा तक अपने को सत्य मानता है। इस प्रकार से सभी युक्तिवाद वास्तविक हैं, हां अपनी-अपनी अपेक्षा से। यद्यपि वैदिक दर्शन के न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदांत और बौद्ध-दर्शन में किसी एक वस्तु के विविध दृष्टियों से निरूपण की पद्धति तथा अनेक पक्षों के समन्वय की दृष्टि है, किंतु उनमें प्रत्येक पहलू पर संभावित समग्र दृष्टि बिंदुओं से एक मात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ़ आग्रह जैन-परंपरा की अपनी विशेषता है। इसलिए स्याद्वाद को विश्वविजेता निष्कण्ठक राजा कहा गया है। “एवं विजयिनि निष्कण्ठके स्याद्वादमहानरेन्दे।” ऋग्वेद का वचन “एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति” (१।१६।४।४६) वस्तुतः समन्वयकारी अनेकांत का बीज वाक्य है। जो भी हो, हमें मानना होगा कि जैन-दर्शन ने प्रमेय का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यानी त्रिलक्षणा परिणामवाद को मानकर तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में एक विशिष्ट समन्वयवाद उपस्थित किया है। यही नहीं आचार-प्रधान जैन धर्म ने तत्त्व ज्ञान का उपयोग भी आचार-शुद्धि के लिए ही किया है। इसी लिए तर्क जैसे शुष्क शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय के लिए किया है। दार्शनिक संघर्ष एवं वाद-विवाद के युग में भी समता, उदारता और समन्वय-दृष्टि की जैन तार्किक परंपरा में अद्भुत अभिव्यक्ति मिलती है। हेमचंद्र ने कहा है—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनोवा नमस्तस्मै ॥

हरिभद्र तो और भी अधिक प्रगल्भ दीखते हैं—

पक्षपातो न मे वीरो न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यपरिग्रहः ॥

असत् में जब वस्तु स्थिति की अनन्तधर्मात्मकता, मानवीय ज्ञान की दुखद सीमार्ये, शब्द का अत्यल्प सामर्थ्य तथा अभिप्राय की विविधता का जब विचार करते हैं तो उसका निरूपण करना कोई सामान्य कार्य नहीं। इसी लिये जैनों ने आचार में अहिंसा, विचार में अनेकांत, वादादि में स्याद्वाद तथा समाज में अपरिग्रह—ये चार स्तंभ माने जिन पर उनका सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा है। जैन दर्शन की भारतीय दर्शन को यही देन है कि इसने वस्तु के विराट् स्वरूप को सापेक्ष दृष्टिकोणों से देखना सिखाया, सावधानी पूर्वक सापेक्ष भाव से बोलना सिखाया और हर जीव को जीने का समान अधिकार माना, सबों के साथ अहिंसा का व्यवहार सिखाया तथा समाज में समता के लिए अपरिग्रह बताया।

विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय

विज्ञान और अध्यात्म के द्विषय में सामान्य मनोभाव यही है कि विज्ञान के द्वारा हमें बाह्य जगत् का और अध्यात्म के द्वारा अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन विज्ञान की सम्यक् दृष्टि तो यही है कि 'विज्ञान' का अर्थ है 'विशिष्ट ज्ञान', इसलिये इसमें बाह्य जगत् एवं अन्तर्जगत् दोनों का ज्ञान अभिनिहित है। असल में मूल में है 'वैज्ञानिक-दृष्टि', जिसमें हम सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अवगाहन एवं दोहन करते हैं। विज्ञान ने बाह्य जगत् के रहस्यों के भेदन में जितना समय और शक्ति दी है, उतना अन्तस्तत्त्व की खोज में नहीं दिया है। यही कारण है कि मानव-प्रकृति का बहुलांश अभी भी गहन अन्धकार में है। शायद विज्ञान अपने उत्कर्ष की चकाचौंध में यह भूल गया था कि मानव कार्य-सिद्धि के लिये भले ही अनेकों उपयुक्त साधनों की खोज करता रहा है लेकिन एक भी साधन स्वयं मनुष्य के समान नहीं है। मानवतुल्यं नैकमपि साधनम्। मानव परम पुरुषार्थ है। यूनानी दार्शनिक प्रोटागोरस ने तो कहा ही था—Man is the measure of all things. व्यास ने भी कहा—“न हि श्रेष्ठतरं किञ्चित् मानुषात्।” टिलहार्ड (The Phenomenon of Man), हक्सले (Man in the Modern World), एलक्सिस कैरल (Man the Unknowing), युंग (Modern Man in Search of Soul) एवं मार्क्स आदि आधुनिक विद्वानों ने मानव की भूमिका और महत्त्व अवगाहन करने पर अत्यधिक जोर दिया है। फिर भी हम विज्ञान-विरुद्ध नहीं हो सकते। जो विज्ञान-विरुद्ध है, वह ज्ञान नहीं, अज्ञान और अन्धविश्वास है। जो विज्ञान-विरुद्ध है, वह तर्क-विरुद्ध है और तर्क-विरुद्ध हम हो नहीं सकते। जो तर्क नहीं करता है, वह अन्धविश्वास और रूढ़ियों में जकड़ा हुआ है, जो तर्क नहीं कर सकता है वह मूर्ख है और जो तर्क करने का साहस नहीं करता वह दास-वृत्ति का व्यक्ति है। इसीलिये जो विज्ञान या तर्क-विरुद्ध है, उसके लिये कहीं कोई अवसर नहीं है। वह असत्य एवं भ्रम है। किन्तु कुछ चीजें ऐसी हैं जो तर्क-विरुद्ध नहीं हैं लेकिन तर्क से परे हैं। इसलिये जो तर्क से परे है, वह न तो विज्ञान-विरुद्ध है न तर्क-विरुद्ध। इसी तरह जो विज्ञान से परे है, वह तर्क-विरुद्ध या ज्ञान-विरुद्ध नहीं है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण तो यह है कि विज्ञान एवं तर्क की उप-योगिता एवं महत्त्व के प्रति आस्था और विश्वास स्वयं विज्ञान एवं तर्क से ऊपर है। सभी बातें तर्काधारित होनी चाहिये। सभी विज्ञान सम्मत होने

चाहिये, यह तो एक प्रकार का धार्मिक विश्वास जैसा ही है। इस तथ्य को हाइजनवर्ग ने अपनी पुस्तक (Physics and Beyond, Encounters and Conversations, Harper and Row, 1971) में अच्छी तरह प्रतिपादित किया है।

डा० रेनर जानसन जैसे विश्व विख्यात पदार्थ वैज्ञानिक ने यह स्पष्ट कर दिया कि पाश्चात्य जगत् में प्रचलित वैज्ञानिक भौतिकवाद की मान्यताएं आज उतनी विश्वसनीय नहीं रही क्योंकि गर्भाशय में जीव-विकास और स्मृति आदि के तथ्यों की संतोषप्रद व्याख्या नहीं हो पाती है। रेडियोधर्मिता की सक्रियता एवं प्रकाश पुंज में व्यवधान आदि की बातें इसको सिद्ध करती हैं। उन्होंने तो बताया कि सभी प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं में किसी प्रकार की चेतना परिलक्षित होती है (Behind all the phenomena of Nature, psychical fields are in existence) विज्ञान कोई गवाक्षहीन-जगत् या परिपूर्ण-तत्त्व नहीं है। इसीलिये आज “परामनोविद्या” से प्राप्त अनुसंधानों को भी ध्यान से देखना चाहिये जिस पर पिछले ५० वर्षों में बड़े-बड़े वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिकों ने अन्वेषण एवं प्रयोग किये हैं। इस सम्बन्ध में राइन, सोएल, कैरिंगटन, टेरिल, मर्फी आदि के नाम द्रष्टव्य हैं जिन्होंने इंद्रियेतर प्रत्यक्ष (Extra-Sensory Perception) जैसे अवधि-ज्ञान (clairvoyance or clairaudience), मनःपर्यय (Telepathy) आदि के अनेकों प्रयोग प्रदर्शित किये हैं। इनमें इंद्रियों की स्नावयिक-मांसपेशीय-व्यवस्था के बिना भी ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट पुरुषों की रहस्यानुभूतियों की भी व्याख्या करने में विज्ञान के प्रस्तुत उपकरण अक्षम रहते हैं।

विज्ञान और अध्यात्म का द्वन्द्व धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। विज्ञान ने १८ वीं शताब्दी पदार्थों की एकता (Unity of Matter) स्थापित करने में लगायी और उन्नीसवीं सदी में शक्तियों की एकता (Unity of Energy) स्थापित करने का उपक्रम हुआ। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब परमाणु के विद्युत्-किरणों का विखंडन-कार्य सम्पन्न हुआ तो पदार्थ और शक्ति (Matter and Energy) की एकता स्थापित हो गयी है। जीवन और अजीवन, जड़ और चेतन की सीमा-भूमि पर अभी तक अन्धकार के आवरण पड़े हुए हैं। हां, यह सीमा-रेखा इतनी क्षीण हो गयी है कि केवल प्रोटोप्लाज्म की बनावट में सिकुड़ गयी है। अब तो कृत्रिम गर्भाधान एवं “परखनली शिशु” के प्रयोगों ने इस विभाजन रेखा को और भी क्षीण कर दिया है। चेतन और अचेतन की सीमान्तक रेखा को समाप्त करने का पुरुषार्थ एक नवीन विश्व-दर्शन की प्रसव पीड़ा है।

लेनिन के समय ही विद्युत्-कण के आविष्करण के कारण ठोस एवं

स्थान घेरने वाले परमाणु की अवधारणा ध्वस्त हो गयी थी तो लोगों को लगा कि भौतिकवाद की जड़ ही कट गयी। लेनिन ने स्पष्टीकरण किया था कि दार्शनिक **मैटर** का उस **मैटर** से कोई ताल्लुक नहीं जो स्थान घेरता है या जिसका वजन है। दार्शनिक **मैटर** तो एक **संप्रत्यय (concept)** है जिसका अर्थ है कि मानव चेतना के बाहर वस्तु की स्वतंत्र स्थिति। यह स्थिति मूल में **तरंगमय** है या **ठोस**, इसका दार्शनिक **मैटर** से बहुत मतलब नहीं। अपनी पुस्तक (*Materialism and Empirio Criticism Page-84*) में लेनिन ने स्पष्ट कहा है कि ज्ञान की प्रगति के क्रम में 'मैटर' का जो भी रूप प्रस्तुत होगा, दार्शनिक **मैटरवादी** उसे ही स्वीकार करेंगे। श्री अरविन्द ने इसी को दूसरे शब्दों में कहा कि **मैटर** इन्द्रिय ज्ञान से परे है। सांख्य के प्रधान की तरह यह मूल-तत्त्व भी **संप्रत्यय** रूप ही है। श्री अरविन्द के अनुसार आज हम ऐसी जगह पर पहुँच गये हैं, जहाँ मूल तत्त्व और मूल-शक्ति के रूप में केवल काल्पनिक विभेद रह गया है। **लाइफ डिवाइन**, भाग-१ पृ०-६७ के अनुसार यों तो प्राचीन काल से अध्यात्म चिन्तन में जड़-चेतन के अद्वैत की भावना निकलती थी किन्तु उस युग के विज्ञान की अविकसित धारा में यह शक्ति नहीं थी कि इसके लिए दृढ़ आधार मिल सके, इसीलिये 'एकमेवाद्वितीयम्, एकोऽहं-द्वितीयोनास्ति', 'स्वा इलाहिल्लिहाह' आदि सूचक अद्वैत-चिन्तन विद्या-विलास या गगन-विहार ही सिद्ध हुए, भले ही कुछेक ऋषियों एवं मुनियों ने अपरोक्ष-नुभूति के माध्यम से इसको व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किया हो। आज भी जड़-चेतन की एकता विज्ञान ने सुदृढ़ भूमि पर स्थापित नहीं की है, लेकिन जिसके लिये पिछले दो हजार वर्षों से दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रयत्न करते हुए दृश्यमान अनेकताओं के बीच एकता की स्थापना कर रहे थे, आज आधुनिक विज्ञान ने उसे काफी सफल कर दिया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक ए. एन. व्हाइटहेड कहता है—“अपने चारों ओर जिस दुनिया को हम देखते हैं उसका मानसिक जगत् से सम्बन्ध हम जितना समझते हैं उससे कहीं ज्यादा है।” इसी को लेनिन अपनी व्याख्या से और भी उजागर करते हैं कि “मैटर की मौलिक बनावट में ही चेतना का मूल तत्त्व मिला हुआ है।” यूजेन विगनर ने भी कहा है कि दो प्रकार के तत्त्व होते हैं—“अपनी चेतना का सत्य” और इसके अतिरिक्त जो सत्य है। (*Existence of My Consciousness and existence of others' Consciousness*) लेकिन ये दोनों निरपेक्ष एवं स्वतंत्र नहीं बल्कि सापेक्ष हैं। सबकुछ अभिसाञ्जिक या सांप्रत्ययिक है।” सीरिल हिरीशेलबुड ने स्पष्ट कहा—“अन्तस्तत्त्व को अस्वीकृति अपनी तात्कालिक प्रत्यक्षानुभूति और उसके अस्तित्व की अस्वीकृति है।” मैक्सबौन ने इसीलिये सैद्धांतिक पदार्थ विज्ञान को वास्तविक दर्शन कहा है। न्यूटन-आइन्स्टीन की कोटि के पदार्थ वैज्ञानिक नील्स बोर ने **आण्विक भौतिकी (Atomic Physics)**

के अन्तर्गत पूरकता का सिद्धांत (Principle of complementarity) प्रस्तुत किया है जिसे जापानी पदार्थ-वैज्ञानिक यूकाबा ने समर्थन करते हुए कहा है कि जापान में हम अरस्तु के निरपेक्ष तर्कशास्त्र से प्रभावित नहीं हैं। श्री अरविन्द ने तो इसे और भी स्पष्ट किया कि “अन्तस्तत्त्व का ही एक रूप मीटर है।” लाइफ डिवाइज, भाग-२ पृ० ४५३) श्री मां ने इसीलिये दर्द से कहा है— जिसे ईश्वर ने मिलाया, एक किया है, क्यों उसे मनुष्य अलग करना चाहता है।” बर्ट्रैंड रसेल के अनुसार “मानस और मीटर का अन्तर काल्पनिक है।” क्वान्टम मेकनिक्स (Quantum Mechanics) के विज्ञाता पी. ए. एम. डिराक ने कहा है “प्रकृति के आधारभूत सिद्धांत भी जगत् को उतने परिचालित नहीं करते हैं जितना वे दीखते हैं।” अध्यात्म की भाषा में जड़-चेतन के इसी अद्वैत को “सर्वं खलु इदं ब्रह्म”, “ईशावास्यमिदं सर्वं” या “सीयराममय सब जगजानी” आदि उक्तियों से स्पष्ट किया गया है। जब सब कुछ ‘ब्रह्म’ या ‘ईश्वर’ है तो फिर चित्-अचित्, जड़-चेतन का भेद ही क्या होगा ? जेम्स जीन्स (Mysterious Universe), एडिंगटन आदि समकालीन वैज्ञानिक विज्ञान में प्रत्ययवादी प्रवृत्तियों का समावेश देखते हैं।

एक दूसरी दृष्टि से भी विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय देखा जा सकता है। विज्ञान सृष्टि के नियमों का अनुसंधान करता है और कहता है कि प्रकृति अपने नियमों से आबद्ध है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता है। इसी को अध्यात्म ‘ऋत’ या ‘धर्म’ की संज्ञा देता है। बिना नियम के ईश्वर भी कोई कार्य नहीं करते—“ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत्।” विज्ञान को यदि उसके मौलिक अर्थ “ज्ञान” के अर्थ में समझे तो बाह्य जगत् का और मानव-स्वभाव (अन्तर्जगत्) का ज्ञान दोनों का समावेश है। विज्ञान की अडिग गवेषणा और वैज्ञानिक वृत्ति या वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो, जिसमें मानव-प्रकृति का अध्ययन भी शामिल हो, तो मानवता का संकट दूर हो सकता है। आज अध्यात्म की वैज्ञानिक खोज की आवश्यकता है। चित्त-संशोधन (Psychic Research) भले ही अध्यात्म-तत्त्व के अन्वेषणों में एक गवाक्ष का काम करे किन्तु विनोबाजी इसे आध्यात्मिक नहीं मानते। वह साइन्स ही है। चित्त भी मीटर (द्रव्य) के अन्तर्गत है किन्तु आत्म-तत्त्व उससे भिन्न है। अतः चित्त-संशोधन आत्मज्ञान नहीं माना जायेगा। इसी तरह अध्यात्म में प्रेतविद्या (Spiritism) का भी समन्वय नहीं होना चाहिए। जिस चीज का भला या बुरा उपयोग हो सकता है, वह अध्यात्म नहीं है। वह तो भौतिक विश्व का एक हिस्सा है। चैतसिक शक्ति (Psychic Powers) या प्रेत शक्ति (Spiritism) का सदुपयोग या दुरुपयोग दोनों हो सकता है अतः वे भौतिक शक्तियां हैं।

असल में अध्यात्म मूलभूत श्रद्धा है और उसकी कुछ निष्ठाएं हैं। सर्व

प्रथम “निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा” (Faith in the absolute values) अध्यात्म की निष्ठा है। शाश्वत नैतिक मूल्यों को मानने से सब तरह के लाभ हैं, उसे तोड़ने से सब जगह हानि है। नैतिक मूल्यों में अवसरवादिता नैतिकता को तो कमजोर करती ही है, अध्यात्म को भी कलंकित करती है। दूसरी आध्यात्मिक निष्ठा है—मृत्यु के बाद भी जीवन की अखंडता को स्वीकार करना। मृत्यु से जीवन खंडित नहीं होता—चाहे वह सूक्ष्म रूप में रहे या स्थूल रूप में, निराकार या साकार, देहधारी या देहविहीन। जीवन अखंड है। जब पदार्थ या ऊर्जा अनश्वर है तो आत्मा की अमरता भी स्वतः सिद्ध है। जन्म मरण से आत्मा पर प्रभाव नहीं पड़ता। वासांसि जीर्णानि यथा विहाय। अध्यात्म की तीसरी निष्ठा है—“प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता।” जब सब प्राणियों में किसी न किसी रूप में चैतसिक-केन्द्र है, फिर उसकी एकता और पवित्रता में विश्वास करना अध्यात्म की पहचान है। अध्यात्म की चौथी आधार-निष्ठा है, विश्व में व्यवस्था और बुद्धि के प्रति आस्था। इसी का अर्थ है, ईश्वर का नाम देना या परमेश्वर पर श्रद्धा। अध्यात्म की पांचवी श्रद्धा है कि मानव-जीवन में पूर्णता का अनुभव हो सकता है। भले ही पूर्ण मानव हमने नहीं देखे लेकिन मानव की पूर्णता में विश्वास रखना एक आध्यात्मिक निष्ठा है।

अध्यात्मवादियों का दोष यही है कि उनके अनुसार ‘अध्यात्म-ज्ञान’ पूर्ण हो चुका है। उसमें अब किसी तरह की प्रगति शेष नहीं रही। विज्ञान के दोष अनुभव से सुधारे जाते हैं। टालोमी का दोष कोपरनिकस एवं न्यूटन का आइंस्टीन ने सुधारा। उसी प्रकार अध्यात्म-जगत् में प्रविष्ट दोषों का निराकरण होना चाहिए। दुर्भाग्य से अध्यात्म-साधना के नाम पर स्वार्थ ऊपर आ गया है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद ने नृसिंह भगवान से कह दिया था—“बहुधा देव और मुनि अपनी ही मुक्ति की कामना करते और विज्ञान अरण्य में मौनादि के आधार से मुक्ति ले मुक्ति का आभास कर लेते। लेकिन मैं इन दीनजनों को छोड़ अकेला मुक्त होना नहीं चाहता।” संक्षेप में जिस प्रकार ‘मेरा घर’ ‘मेरा पुत्र’ आदि अपने स्थूल स्वार्थवाद हैं, उसी प्रकार अध्यात्म-जगत् में “अपनी मुक्ति” की बात कहना वदतोव्याघात है, क्योंकि ‘मैं’ का लोप ही मुक्ति का साधन है। यदि इस साधन पर एक का ही आधिपत्य रखते हैं तो ‘मैं’ दृढ़ होता है और दूसरे सभी अज्ञानी रह जाते हैं। संक्षेप में व्यक्तिगत-मुक्ति की कल्पना का परिष्कार करना होगा। “मैं” की जगह” हम “को लाना होगा। इसी को “सर्वमुक्ति”, “बोधिसत्त्व” या “सामूहिक मुक्ति” की कल्पना कहते हैं। यदि “अहंता”, या “ममता” का त्याग ही मोक्ष है तो यह स्वाभाविक है। सांख्य में भी इसी की साधना के लिए ‘नास्ति’, ‘ना मे’ और “न अहं” आदि उक्तियां बतायी गयी हैं। अतः

साधना के नाम पर स्वार्थ चलाना आध्यात्मिकता नहीं है। व्यक्तिगत रूप से सिद्धि प्राप्ति भी एक प्रकार का पूंजीवाद ही है। 'मेरा धन', 'मेरी विद्या' 'मेरी साधना' या 'मेरी मुक्ति' भी व्यक्तिवाद के ही प्रतीक हैं। 'मेरी साधना', या 'मेरी मुक्ति'— ये सब एक ही कोटि का समाधान है।

भारतीय अध्यात्म की विशिष्ट प्रतिभा को वैज्ञानिक दृष्टि से उजागर करना आवश्यक है। रामानुजाचार्य ने अपने गुरुमंत्र को जग जाहिर करने के लिए खुद नरक भोगा था। ज्ञानदेव, चैतन्य एवं अन्य मध्ययुगीन संत ब्रह्मविद्या को स्त्रियों, शूद्रों, बच्चों और साधारण से साधारण जनता के बीच बांटते रहे। भारतीय अध्यात्म की मुख्य विशेषता है कि 'मन' को मुक्त करें। आज विज्ञान ने सृष्टि के बाहरी हाथ से काम आरम्भ किया है, फिर भी अन्दर की ओर भी वह धीरे-धीरे जाने का प्रयत्न करेगा और उसे अनुभूति एवं प्रयोग की कुछ नयी पद्धतियां खोजनी होंगी। इंद्रियों पर आधारित प्रचलित पद्धतियों एवं ऐन्द्रियिक अनुभूतियों से तब काम नहीं चलेगा। हम इंद्रियों के द्वारा जो स्पर्श, घ्राण आदि अनुभव करते हैं, फिर भी यही वह तत्त्व नहीं है। तत्त्व द्रव्य-निरपेक्ष (immaterial) नहीं है, परन्तु द्रव्य से भिन्न जरूर है। इस अर्थ में द्रव्य (matter) भी तात्त्विक (substantial) हो जाती है। इस तरह द्रव्य और चित्त (Matter and Mind) दोनों दो नहीं रह जाते हैं। दोनों पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है। इसीलिए कौन प्रमुख और कौन गौण आदि सारी चर्चा बिलकुल निम्न-स्तरीय हो जाती है। बस, कोई एक तत्त्व है, जो चित्त और द्रव्य दोनों से परे है।

अध्यात्म और विज्ञान दोनों मनुष्य की आधारभूत प्रेरणा एवं आकांक्षाओं की अभिव्यक्तियां हैं। "विज्ञान के बिना अध्यात्म पंगु है तो अध्यात्म के बिना विज्ञान अंधा है।"—ऐसा आइन्स्टीन ने कहा था। यही कारण था कि ज्ञान-विज्ञान पारंगत नारदमुनि को भी सनत्कुमार के यहां अध्यात्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाना पड़ा था। नारद की इस निरीहता पर ही शंकराचार्य ने कहा था—“सर्वविज्ञान-साधन-शक्ति-सम्पन्नस्य अपि नारदस्य देवर्षि श्रेयो न बभूव।” यानी विज्ञान भौतिक सुख-समृद्धि तो दे सकता है लेकिन आत्मिक आनन्द, मानसिक शांति और श्रेय अध्यात्म से ही मिलेगा। यमराज ने भी नचिकेता को प्रेय और श्रेय का विवेक बताया था। कामायनी में प्रसाद जी ने मानव जीवन की इसी विडम्बना को उजागर करते हुए लिखा है—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?

एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।

विज्ञान प्रकृति एवं सृष्टि के नियमों का अनुसंधान तो करता है लेकिन

यह नहीं जानता है कि ये नियम प्रकृति में कहां से आए ? इसी को खोजना अध्यात्म है। ईशावास्य उपनिषद् में ऋषि कहता है—

“वह है तभी तो संचरित यह प्राण है।

जो कर रहा क्रीड़ा प्रकृति की गोद में ॥”

विज्ञान यह तो कहता है मस्तिष्क में विद्युत्-तरंगों के माध्यम से हम पढ़ते और समझते हैं लेकिन विज्ञान यह नहीं बता पाता कि उन तरंगों से हम वही पक्तियां क्यों पढ़ते हैं ? विज्ञान सृष्टि का विधायक स्वरूप तो बता देता है लेकिन मानव जीवन का लक्ष्य (ought) क्या हो, यह नहीं कह सकता। इसके लिए तो अध्यात्म की शरण में जाना ही होगा। बर्ट्रैंड रसेल ने ठीक ही कहा है कि “हम अपने लक्ष्यों एवं नैतिक आदर्शों के लिए कोई वैज्ञानिक आधार नहीं दे सकते।” इसलिये अध्यात्म का संयोग आवश्यक है। शुद्ध भौतिकवाद की अंतिम परिणति व्यक्ति और मानव जीवन में व्यर्थता एवं नगण्यता पैदा करना है। उसी प्रकार अंध अध्यात्म दृश्यमान के मिथ्यापन को इतना खींच लेता है कि हम मायावाद में फंस कर काल्पनिक और अर्थहीन होने लगते हैं। “सुख की खोज” मानव-जीवन की सीमाहीन भूख एवं अतृप्त प्यास है। सुख की असीम तृष्णा ही शक्ति की खोज का भी रहस्य है। रामायण, महाभारत आज के विश्व में महाशक्तियों की उद्दाम भोग लिप्सा पर आश्रित नृशंस लीला के ही उदाहरण हैं। आज तो पुनः ६३ हजार वर्षों के बाद हम पुनः महाभारत के युग में आ गए हैं—

“कर में विज्ञान और दिमाग में है कूटनीति,

मारक अणु अस्त्रों का करता निर्माण है।

पाकर वरदान अरे, भस्मासुर आज बना,

मानव को हिंसा की शक्ति का गुमान है ॥”

इसीलिए आज विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय मानव-सृष्टि के लिए अपरिहार्य हो गया है। १९६३ में पटना में आयोजित “अध्यात्म और विज्ञान” पर आयोजित परिसंवाद को अपने संदेश में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था—“विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के बिना मानवता के विनाश का सच्चा खतरा पहुंच चुका है।” पं० नेहरू ने तो कहा—विश्व का भविष्य विज्ञान की प्रगति पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है। किन्तु अध्यात्म के मार्गदर्शन के बिना मानवता प्रलयकारी दुर्घटना का शिकार हो जाती है।” इसीलिए “अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय के सम्बन्ध में चिंतन और मनन केवल भारत के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व-मानवता के लिए आवश्यक है”—ऐसा दार्शनिक राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने कहा। श्री अरविन्द आश्रम की माताजी ने वेदना से कहा—“विज्ञान और अध्यात्म को विभाजित मत करो। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का एक ही

गन्तव्य है—भगवत्ता की प्राप्ति । एक ही अन्तर है कि विज्ञान बिना जाने उस दिशा में बढ़ता है जबकि अध्यात्म चेतनयुक्त होकर उसी दिशा में बढ़ रहा है ।” दोनों के मूल में मानव के प्रति अनंत करुणा है । इसीलिए लेनिन ने चेतावनी दी थी कि “वैज्ञानिक गणित की गगनचुम्बी उड़ान में उस तराजू को भूल जाते हैं जिस पर से वे उड़े थे ।” श्री अरविन्द ने भी इसी को दूसरे शब्दों में कहा—“आध्यात्मिक विकास की चोटियों पर यदि हम मानव-धरातल को भूल जायं तो हम कभी भी सत्य को नहीं पकड़ सकेंगे । (लाइफ डिवाइन, भाग-१, पृ० ४५) । सांख्य या देकार्त ने जड़ और चेतन का द्वैत खड़ा कर अव्यक्त पृथक्करण पैदा किया था, जबकि माध्यमिक शून्यवाद आदि ने रक्त और मांस, पदार्थ और वस्तु को छोड़कर सत्य की भांकी पाने का भले प्रयास किया लेकिन वह भी अव्यक्त पृथक्करण का ही प्रयास सिद्ध हुआ । भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों अपने आप में पृथक्करण के उदाहरण हैं । इसीलिये श्री अरविन्द ने Denial of the Materialist और Refusal of the Ascetic के बीच मध्यम-मार्ग चुना । विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय इस प्रकार के किसी कृत्रिम द्वैत को स्वीकार नहीं कर सकता है । जीवन की सम्पूर्णता के लिए आवश्यक सारे मूल्य न केवल विज्ञान से प्राप्त हो सकते हैं, न कि केवल विज्ञानेतर शास्त्रों यानी साहित्य एवं कला से । कोमलता, दया, करुणा, आत्मीयता और प्रेम जैसे मूल्य विज्ञान से नहीं, अध्यात्म से निःसृत होंगे । लेकिन जिस प्रकार शक्ति के बिना शिव-स्वरूप हैं, उसी प्रकार विज्ञान के बिना अध्यात्म भी पंगु होगा । अतः आज सस्कृति-संगम की आवश्यकता है जहां विज्ञान और अध्यात्म की समन्वय-साधना ही मानव-साधना का पर्याय होगी ।

शुद्ध अध्यात्म राग-द्वेष से विमुक्ति है और शुद्ध विज्ञान में राग-द्वेष का स्थान ही नहीं हो सकता । अतः अध्यात्म और विज्ञान दोनों ही सत्य का संधान हैं । सत्य न तो प्राची के हाथ बिका है, न प्रतीची के हाथ । सत्य पर न तो सुकरात का स्वाधिकार है न शंकर का, न न्यूटन का एकाधिकार है न आइन्स्टीन का । वैज्ञानिक निष्ठा रागद्वेष-विमुक्ति की ही साधना है । राग-द्वेष विमुक्ति वैराग्य के लिए जितनी आवश्यक है, उससे अधिक स्वस्थ जीवन के लिए भी । अक्षोभवृत्ति धारण किए हम तनावपूर्ण जीवन से त्राण नहीं पा सकते हैं तथा अध्यात्म मानवजीवन की एक वैज्ञानिक आवश्यकता है और विज्ञान अध्यात्म को शक्ति देता है ।

जनतंत्र और अहिंसा

१- मूल्य-निरूपण

प्रचलित अर्थों में जनतंत्र भले ही एक प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में माना जाता हो, लेकिन व्यापक अर्थ में वह समाज का एक स्वरूप-विशेष एवं सर्वोपरि जीवन की एक विशेष पद्धति है। प्रश्न केवल व्यवस्था का नहीं मूल्य का है। इसी प्रकार अहिंसा केवल निरामिष आहार या प्राणिवध-वर्जन ही नहीं, वह तो अन्तस्तल का अगाध एवं अनन्त प्रेम है, जहाँ स्पर्धा के स्थान पर सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता के बदले प्रेम को जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकृति है।

हम यह कह सकते हैं कि लोकतंत्र और अहिंसा के ये मानवीय मूल्य किसे मान्य नहीं? किन्तु प्रश्न केवल मान्यता का नहीं मानने का है। भावना का नहीं, आचरण का है। बाह्य से अधिक अंतर का, कर्म से अधिक महत्त्व आत्मा का मानना ही होगा। इसके बिना हमारे बड़े-से-बड़े कर्म इतिहास के द्वारा भुला दिए जायेंगे। अतः इन मूल्यों को मन एवं भावना में दृढ़ रखकर इनके अनुबंध एवं संदर्भ को, स्थिति और परिस्थिति को, हम जब तक आध्यात्मिकता के संस्कार-परिष्कार से मूल्य-परिवर्तन का नवविधान प्रदान नहीं कर दें, हम न सच्चे जनतंत्र को और न सच्ची अहिंसा को ला सकेंगे। जो जनतंत्र जन-मन से अलग निर्जीव जनगणना के अंकगणित से काम चलाता है, वह स्वयं अपनी रक्षा के लिए ही बार-बार दंडशक्ति यानी पुलिस एवं फौज के सामने असहाय हो कर अश्रुपात करता रहता है। इस-लिये सच्चे जनतंत्र के लिए केवल संख्याबल नहीं, धर्मबल और आत्मबल चाहिये। महत्त्व मत का नहीं, विश्वास का है; गणना का नहीं, श्रद्धा एवं आस्था का है। शक्ति जिससे काम होगा, वह स्पर्धा एवं संघर्ष से दहकती और भभकती हुई नहीं होगी, उसे तो अन्तस्तल की सहिष्णुता, स्नेह एवं सेवा की स्तिग्धता एवं हृदय की मधुरता चाहिए। उसी प्रकार अहिंसा भी कोई रूप या कृत्य नहीं, वह तो एक भावना है, मूल्य की संज्ञा है। मनुष्य में पशुता की प्रत्येक पराजय को, युद्ध की नृशंसता के बीच प्रत्येक नियमन और नियंत्रण को, राष्ट्रों के बीच अवश्यभावी युद्ध की भावना के स्थान पर एक अवश्यभावी विश्व-व्यवस्था को एवं आणविक शक्तिसम्पन्न दारुण हिंसक उपकरणों के प्रलयकारी प्रदर्शन के मध्य शांति की प्यास और तड़प को अहिंसा कहते हैं। हिंसा की उद्यम धारा के बीच मानव-चेतना में अहिंसा

को अन्तःसलिला सरस्वती स्वरूप हिंसा को आत्मघातक एवं अहिंसा को अनिवार्य बता रही है। लगता है इतिहास के गर्भ-से हिंसा नहीं, अहिंसा निकल रही है और संहार के बीच भी जीवन अपना निर्माण निकाल रहा है।

२. जनतंत्र और अहिंसा : मानव-सापेक्ष

प्रश्न चाहे जनतंत्र का हो या अहिंसा का, ये सब मानव-सापेक्ष हैं। यानी ये सब प्रश्न मानव के प्रश्न हैं और मानव के लिए ही हैं। मानव ही परम मूल्य है। मानव-प्रतिष्ठा और मानवीय निष्ठा को भुला कर जनतंत्र श्रीहीन एवं अहिंसा शक्तिहीन दीख रही है। यहां प्रश्न यह है कि भौतिकवादी चिंतनधारा ने विज्ञान की प्रतिष्ठा के बल पर मानव-सापेक्ष इन गंभीर प्रश्नों को मानव-निरपेक्ष कर दिया है। फल यह हुआ कि हमने इन प्रश्नों के मूल में निहित मानव-निष्ठा एवं मानवीय प्रयोजन को ही भुला दिया है। मानव-सम्मान एवं मानव-कल्याण को भूल कर हम लोकशाही एवं ताना-शाही, हिंसा या अहिंसा का विवाद ही क्या कर सकेंगे ? इसलिये जब तक जनतांत्रिक राज्य-पद्धति और अहिंसात्मक जीवन-पद्धति का अनुबंध मानवीय मंगल एवं मानवीय प्रतिष्ठा के साथ नहीं बैठेगा, ये सारे विचार-विमर्श कृत्रिम होंगे। राज्य-व्यवस्था या संविधान का ढांचा चाहे कितना भी सुन्दर क्यों न हो, प्रत्यक्ष व्यवहार में वह व्यक्ति की सज्जनता एवं असज्जनता पर ही आधारित है। उसी प्रकार अहिंसा की सफलता या विफलता की कुंजी व्यक्ति की शुद्धता एवं अशुद्धता के पास ही है। राज्य-व्यवस्था या समाज-व्यवस्था के शास्त्र-शुद्ध गणितशास्त्र तो क्या, व्यावहारिक गणितशास्त्र के समान भी नहीं हैं। शुद्ध गणितशास्त्र विचार-सृष्टि में और व्यावहारिक गणितशास्त्र जड़ भौतिक सृष्टि में विचरण करता है, किन्तु, राज्य एवं समाज-शास्त्र का विस्तार एवं व्यापार मानव की चेतन सृष्टि में है, जहां उसकी भावना एवं योजना, स्थिति एवं परिस्थिति, नीति एवं मूल्य, आदर्श एवं आकांक्षा—इन सबों का प्रभाव पड़ता है। इसलिए जनतंत्र एवं अहिंसा के सम्बन्ध-निरूपण में मानव और मानवीय संदर्भ को भुलाया नहीं जा सकता है।

३. जनतंत्र और अहिंसा : मानवीय सभ्यता के विकास-क्रम में

राज्यतंत्र से जनतंत्र का विकास वस्तुतः मानवीय सभ्यता का ही विकास-क्रम है। कभी निर्बल की हार और प्रबल की जीत ही हमारा नियम था। यदि सृष्टि में एक ही मनुष्य होता, तो शायद हार और जीत का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता। किन्तु, यहां तो मानव-विस्फोट की समस्या है। अतः हमारे सामने प्रश्न है “सृष्टिका कितना और कैसे उपयोग हो ?” यही

प्रश्न मानव-समूहों की व्यवस्था का प्रश्न है—मानव-समूह को कभी धनी-गरीब के कारण वर्ण, ब्राह्मण-शूद्रादि के नाम पर वर्ण के काल्पनिक एवं कृत्रिम आधार पर विभाजित किया गया है। किंतु मानव-समूह की व्यवस्था विभाजन के सही आधार, मानव की बुद्धि और शक्ति (जिसे हम सामर्थ्य कह सकते हैं) के आधार पर नहीं हो सकी। अतः मूल प्रश्न है कि यह सामर्थ्य किसके हाथ में रहे ? एक समर्थ व्यक्ति सबके लिए करे या अनेक लोग मिल कर या फिर सब मिल कर करें ? यही तीन विकल्प तो हैं। एक व्यक्ति के द्वारा की जानेवाली व्यवस्था में उससे अधिक उसकी वंश-परम्परा से अधिक निरंकुशता, अहं-प्रमाण एवं दायित्वहीनता की संभावना रहती है; अल्पायतन-पद्धति में व्यवस्था के चाहे जितने भी स्वरूप क्यों न हों, उसमें केन्द्रवाद, हिंसावाद एवं यंत्रवाद को प्रश्रय मिलता है। कुछ लोगों के नाम पर बहुसंख्यायतन पद्धति भी शस्त्र-धारण में निपुण अल्पसंख्य-सैन्यशक्ति पर ही अन्ततोगत्वा अवलम्बित होती है। फल यह होता है कि वास्तविक एवं जीवननिष्ठ जनतंत्र का विकास हो ही नहीं पाता है।

जनता कभी भी वादनिष्ठ या पद्धतिनिष्ठ नहीं होती, वह तो जीवननिष्ठ होती है। वाद तत्त्वज्ञान से निकलते हैं, पद्धतियां व्यवहार से मिलती हैं। जनमानस का एक ही प्रयास होता है कि जीवन सुचारु ढंग से चले। जीवननिष्ठा का एक ही अर्थ है आकृत्रिमता और व्यवहार में सर्वव्यापकता। अकृत्रिम जीवननिष्ठाएं भले ही तात्कालिक दृष्टि से बद्धिष्णु एवं गतिशील हों, किंतु अन्ततोगत्वा उसका वेग मन्द हो जाता है। उसी प्रकार यदि जीवननिष्ठाएं सर्वव्यापक नहीं हुईं, तो फिर परस्पर-विरोध के संघर्ष में ही वे समाप्त हो जाएंगी। फिर शक्ति एवं सामर्थ्य कहां से आये ? इसलिये जनतंत्र एवं अहिंसा की जीवननिष्ठाओं में जब तक सर्वव्यापक सर्वमंगलकारी भावना नहीं जुड़ेगी, तब तक उसके प्रति सबों का सहज सम्पूर्ण सहकार भी प्राप्त नहीं होगा। जो जनतंत्र जितना ही अधिक व्यापक, व्यवस्थित एवं उत्सुक होगा, वह उतना ही अधिक जीवननिष्ठ एवं अहिंसा के समीप होगा। अहिंसा को केवल आकार ही नहीं, प्रकार या जीवन-सामग्री भी चाहिए।

४. जनतंत्र और अहिंसा को समान मान्यताएं

(क) मानव-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा : व्यक्ति का व्यक्तित्व ही चरम मूल्य है। इसलिये मानवीय प्रतिष्ठा अपने-आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यही मानवीय प्रतिष्ठा जनतंत्र और अहिंसा की आधारशिला है। व्यक्ति का व्यक्तित्व मानवता की पवित्र धरोहर है। उसके साथ किसी भी प्रकार का खिलवाड़ हिंसा भी है और जनतंत्र-विरोधी भी। यह कोई संकीर्ण व्यक्तिवाद नहीं, अपितु साधुत्व समुन्नत प्रगतिशील एवं व्यापक व्यक्तिवाद है, जिसमें स्वार्थ के स्थान पर सेवा, पृथक्त्व के बदले भ्रातृत्व एवं भोग के स्थान पर त्याग

का विचार आता है। इसलिये जनतंत्र एवं अहिंसा जीवन के व्यक्तिगत मूल्य ही नहीं, वे नवीन समाज-धर्म के आचार हैं। अहिंसा या जनतंत्र प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य मानता है, प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिष्ठा को स्वीकार करता है, जहां हर व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता माना जाता है। इस साम्य-भावना को ही राजनीति में हम नियम का राज्य (Rule of law) और समाजनीति में अहिंसा कहते हैं।

(ख) मानव-विवेक में आस्था : जब व्यक्ति ही चरम मूल्य है और वही अपने सौभाग्य एवं दुर्भाग्य का निर्णय करने का अधिकारी है, तो उसके विवेक में आस्था रखनी ही होगी। मानव-विवेक में अनास्था वस्तुतः किसी भी प्रकार के शिक्षण और प्रशिक्षण, संस्कार और परिष्कार, को निरर्थक और असम्भव सिद्ध कर देती है।

जनतंत्र यदि विचार-परिवर्तन एवं मत-परिवर्तन की प्रक्रिया है, तो इसके लिए मानव-विवेक पर आस्था रखनी ही होगी। इसके लिए हमें विचार स्वातन्त्र्य को अपनाना ही होगा, जिसके अभाव में चेतनाशून्य जनता तानाशाही का मार्ग प्रशस्त करती है। इसलिये मानवीय विवेक एवं मानव-स्वातन्त्र्य पर किये गये प्रत्येक प्रहार अपने-आप में जनतंत्र की हत्या का दुष्प्रयत्न तो है ही साथ-ही-साथ यह भयंकर हिंसा भी है। विवेक में आस्था शास्त्र के स्थान पर नियम एवं कानून में विश्वास है और अन्ततोगत्वा यह अहिंसा में आस्था है।

(ग) मानवीय करुणा : जनतंत्र एवं अहिंसा दोनों इस माने में करुणा पर आधारित हैं कि अहिंसा प्रेम का पर्याय और जनतंत्र के अन्तर्निहित बहु-जन हिताय बहुजन सुखाय की उदात्त कल्पना है। वस्तुतः सम्पूर्ण मानवता का एक आवंटित भ्रातृत्व ही जनतंत्र एवं अहिंसा का आधार है और यही तो करुणा भी है।

(घ) अभय : विचार-स्वातन्त्र्य एवं जनतंत्र के लिए जिस प्रकार निर्भयता आवश्यक है, उसी प्रकार सच्ची अहिंसा भी अभय भावना के बिना असम्भव है। लेकिन, अपवादस्वरूप यह निर्भयता व्यक्ति विशेष को सभी परिस्थितियों में भले ही प्राप्त हो जाए, लेकिन सामान्य व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक भय से आक्रांत रहता है। इसलिये जब तक हम मानव को अभाव, अन्याय और शोषण से मुक्त नहीं कर सकेंगे, निर्भयता एक दिवास्वप्न होगी। भयाक्रांत जनतंत्र जनतंत्र का मखौल है और भयाकुल अहिंसा तो अहिंसा है ही नहीं।

(च) समन्वय : समन्वय सृष्टि का और सहकार समाज का नियम है। जनतांत्रिक दृष्टि वस्तुतः आप्रह के स्थान पर अनाग्रह, विरोध की जगह समन्वय एवं संघर्ष के स्थान पर सहकार और संतुलन के लिए निरन्तर

चेष्टा करता है। उसी प्रकार अहिंसात्मक दृष्टि भी स्वतः सिद्ध निष्पक्ष न्यायाधीश की भांति सदा-सर्वदा सत्य के समस्त पक्षों का समन्वय करती हुई अनेकात्मक होती है। इसलिये जनतांत्रिक एवं अहिंसात्मक जीवन-दर्शन संघर्ष के स्थान पर समन्वय एवं विरोध के स्थान पर सहकार को अपना जीवन-मूल्य स्वीकार करता है। समन्वय जीवन की साधना है, समाज की रीढ़ है और विश्व-रचना का सुदृढ़ आधार है। समन्वय का विचार आज के युग की मांग है। जनतन्त्र एवं अहिंसा का समस्त विकास वस्तुतः समन्वय की पद्धति से ही हुआ है। यही उसकी मुख्य शक्ति भी है।

५. जनतंत्र एवं अहिंसा : सम्बन्ध-निरूपण

चाहे हम सब अपने को एक ईश्वर की संतान मानें या एक मानव-परिवार के सदस्य मानें, हम समान हैं। अतः हमारा समान अधिकार एवं समान कर्तव्य भी है। यहां एक दूसरे के प्रति हिंसक व्यवहार, शोषण एवं उत्पीड़न उस पवित्र नियम का खंडन है। उसी के खंडन से समाज में असंतुलन, संघर्ष एवं अस्तव्यस्तता आती है। यही अहिंसा की भावना है और जनतन्त्र उसी अहिंसा-भावना का व्यवहार-धर्म (applied religion) है, जो प्रशासन के क्षेत्र में अभिव्यक्त होता है। उसी प्रकार जनतंत्र की आधार, समता और स्वतंत्रता, अहिंसा की भावना की गंभीरतम अभिव्यक्ति है। अतः जनतन्त्र एवं अहिंसा एक दूसरे के पूरक एवं रक्त-सम्बन्धों से आवद्ध हैं। जहां जनता के द्वारा जनता का जनता के लिए प्रशासन की बड़ी जोर-जबर्दस्ती की कल्पना ही व्यर्थ है। जितनी ज्यादा जोर-जबर्दस्ती या हिंसा होगी, उतना ही कम जनतंत्र होगा।

लेकिन, यह कहा जा सकता है कि आज की जनतांत्रिक सरकारों में भी हिंसा फूटती और भभकती रहती है। ऐसा क्यों? उसका अर्थ इतना ही है कि जनतांत्रिक सरकारें वास्तविक रूप में जनतंत्र की भावना पर खड़ी हैं ही नहीं यानी इनका आधार जनता का स्वयं-स्फूर्त संयत सहकार नहीं, बल्कि प्रकट एवं अप्रकट हिंसा है। जो प्रशासन आर्थिक-सामाजिक विषमता पर और शोषण पर अवलम्बित हो, उसे हिंसा का सहारा लेना ही होगा! विषमता हिंसा है और शोषण भी हिंसा है। सामाजिक और आर्थिक अन्याय एवं बहुस्पर्धावाद की राजनैतिक भूलों पर अव्यवस्थित तथाकथित शांतिपूर्ण जनतंत्र हिंसा का प्रतिमान रूप ही है। आज का जनतांत्रिक राज्य भी हिंसा का ही एक संगठित रूप है। व्यक्ति में तो आत्मा होती है, लेकिन राज्य तो आत्मविहीन जड़-यंत्र मात्र है। प्रचलित प्रजातंत्र सर्वायतन का दिखावा करने वाली राज्य-पद्धति वस्तुतः हिंसा पर ही आश्रित है; क्योंकि इनमें केन्द्रीकरण, यन्त्र-पूजा, शस्त्रनिष्ठा और शोषण का समावेश है। इसलिए जनतंत्र उसी हृदयक पूर्ण या अपूर्ण है, जिस हृद तक उसमें

अहिंसा या हिंसा है। जनतंत्र का इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि जनतंत्र के विकास-क्रम में हिंसा के द्वारा समाज-नियंत्रण क्रमशः क्षीण पड़ते गये हैं एवं उनके स्थान पर अहिंसक पद्धतियों का आविष्कार हुआ है। इसीलिये तो जब एक सच्चा जनतंत्रवादी अपनी समता और अपनी अधिकार-प्राप्ति के लिए भी यही कहता है कि वह अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए भी हिंसा का सहारा नहीं लेगा, तो फिर जनतंत्र एवं अहिंसा के बीच की दूरी ही प्रायः समाप्त हो जाती है।

फिर विचार-परिवर्तन की सुसंस्कृत एवं शांतिपूर्ण जनतांत्रिक प्रक्रिया पारस्परिक भय, अविश्वास एवं हिंसा के वातावरण में सम्भव नहीं है। पारस्परिक विचार-विनिमय जो जनतंत्र के मूल में है, पारस्परिक सद्भाव एवं शांति के वातावरण में ही सम्भव है। अतः जनतांत्रिक प्रक्रिया के सामान्य संचालन के लिए भी अहिंसा एक अनिवार्यता है। साथ-साथ अहिंसा का यह मार्ग है कि अपने विरोधियों का मत-परिवर्तन प्रेमपूर्वक और प्रजातांत्रिक पद्धति से ही करे।

इसलिए प्रजातंत्र को हम अहिंसा का पर्याय नहीं भी स्वीकार करें, तो भी यह तो माना ही जाएगा कि जनतांत्रिक पद्धति में विचार-विनिमय, विचार-प्रचार और विमुक्त-निर्वाचन, जनतंत्र को हिंसा से अधिक दूर एवं अहिंसा के अत्यधिक समीप उपस्थित करता है। सच्चे अर्थों में अहिंसक बनने के लिए जनतांत्रिक बनना न्यूनतम शर्त है और सच्चे रूप में जनतांत्रिक दृष्टि के लिए अहिंसक दृष्टि आवश्यक है। हिंसा से जनतंत्र का मेल बैठ नहीं सकता; क्योंकि हिंसा जहां दण्डशक्ति में विश्वास करती है, वहां जनतंत्र विचारशक्ति में आस्था रखता है। हिंसा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का शत्रु है, जनतंत्र की सारी बुनियाद उसी पर है। हिंसा बोट में नहीं, चोट में विश्वास करती है। जनतंत्र के लिए बोट या जनमत ही सार-सर्वस्व है। हिंसा, नियम एवं कानून का निषेध है, जनतंत्र का आचार ही नियम का राज्य (Rule of Law) है। असल बात तो यह है कि हिंसा में जनमत की उपेक्षा है, लेकिन जनतंत्र में तो सामान्य जन-इच्छा की ही संप्रभुता है। हां, यह कहा जा सकता है कि अजनतांत्रिक प्रशासनों से भी जनता का सहकार मिलता है, लेकिन वह तो केवल दंडभय से ही होता है। इसलिए वह अस्थायी होता है। जीवननिष्ठ जनतंत्र में जनता स्वेच्छापूर्वक एवं ज्ञानपूर्वक सहकार करती है; क्योंकि उसमें भय नहीं, बल्कि सामाजिक दायित्व की भावना रहती है। हिंसक उपायों के प्रयोग की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है कि उसमें विरोध या विरोधियों को दबाकर उनका नाश करके खतम कर दिया जाए। इस स्थिति में वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा की बात ही निराधार है। फिर जिस प्रकार हिंसा के साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मेल नहीं बैठता, उसी प्रकार लोकतंत्र

के एक अनिवार्य अंग समता का भी मेल हिंसा से नहीं बैठता। हिंसाशक्ति किसी विशेष व्यक्ति या दल या गुट के अधीन रहती है, जिसमें स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया कुण्ठित हो जाती है। सच्चे लोकतंत्र में तो सबों को समान रूप से ही बढ़ने का अवसर मिलता है। फिर जिस प्रकार उसका स्वतंत्रता, समता से बैर है, उसी प्रकार भ्रातृत्व से भी उसका विरोध है। अहिंसा प्रेम का अधिष्ठान है। यही परस्पर विश्वास एवं स्वेच्छया सहकार है। लेकिन, हिंसक पद्धति में भ्रातृत्व के स्थान पर दासता, विश्वास की जगह अविश्वास एवं अनुशासन की जगह दबाव है। हिंसा से प्रतिफलित आतंकवाद में बन्धुता और भ्रातृत्व स्वाहा हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि जितनी हिंसा होगी, उतनी ही कमी स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व में होगी—जो जनतंत्र के मूल में है।

६. जनतंत्र और हिंसा

इस युग की शायद यह सबसे बड़ी पहेली है कि जिस जनतंत्र की बुनियाद ही अहिंसा हो, उसे स्वयं अपनी आत्मरक्षा के लिए भीषण दण्ड-विधान एवं घनघोर विनाशकारी युद्ध के आयुधों का निर्माण करना पड़ता है। चाहे वह विदेशी आक्रमण हो या आंतरिक सुरक्षा या प्रशासन के अन्य कार्य-कलाप, सभी दंडशक्ति एवं हिंसाशक्ति पर आश्रित दीखते हैं। शायद यह सोचा जाता हो कि चूंकि अभी तक पूर्ण प्रजातंत्र प्रकट नहीं हुआ है, अतः हिंसा का सर्वथा निर्मूलन भी संभव नहीं, इसलिए आंतरिक सुरक्षा के लिए पुलिस एवं दंड-विधान तथा संभाव्य वैदेशिक आक्रमण के लिए सुसज्जित सैन्यशक्ति का विधान करना पड़ता है। इस दृष्टि से जनतंत्र निरंकुश तानाशाही एवं निर्द्वन्द्व अराजकता के बीच की चीज है। यह ठीक है कि जिस प्रशासन में जितना ही कम शासन होगा, वह उतना ही अधिक अच्छा होगा। लेकिन, इसका अर्थ अराजकता नहीं। अराजकता कभी भी जनतंत्र का विकल्प नहीं मानी जा सकती, लेकिन यह तो मानना ही होगा कि जो जनतंत्र जितना ही अधिक सही होगा, उसमें उसी के अनुपात से उतना ही अधिक अनुशासन एवं उतना ही कम शासन या दबाव होगा। जब जनशक्ति दुर्बल हो जाती है, सज्जनता उदासीन हो जाती है, तो फिर दुर्जनों के प्रतिकार की सारी जिम्मेवारी राज्यशक्ति पर ही आ जाती है और उस समय उसका सामना हिंसा से करने के अतिरिक्त और कुछ सूत्र नहीं पड़ता। लेकिन जब जन, सज्जन एवं महाजन सभी अपनी शक्ति को संगठित कर लें, तो फिर अहिंसा से भी मुकाबला करना आसान हो जाता है। लेकिन, इस मुकाबला करने में एक बात अधिक महत्त्व की है—दुर्जन से अधिक दुर्जनता की जड़ और उसके कारणों के ही निर्मूलन का अवसर रहता है। मुख्य प्रश्न है कि सैनिक शक्ति एवं नागरिक शक्ति के संघर्ष से नागरिक शक्ति की जय होनी चाहिए। इसके बिना लोकतंत्र

हमेशा असुरक्षित एवं दण्डशक्ति का दास बना रहेगा। यह भी ठीक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा को स्वीकार नहीं करेगा, किन्तु समाज का रक्षण, समाज की व्यवस्था, समाज का सन्तुलन एवं सबसे अधिक तो समाज की शांति अहिंसा पर ही कायम रह सकती है। हिंसा के निर्मूलन के लिए हमें हिंसा की जड़ों को देखना होगा। आर्थिक अन्याय एवं सामाजिक विषमता तथा विभिन्न प्रकार के राजनीतिक दावपेंच एवं प्रपंच वास्तव में प्रकट हिंसा के ही बीज हैं। इसलिए आज तो अपराध के लिए जेलखाने से अधिक सुधार-पाठशाला, दंड-विधान से अधिक मनोविज्ञान को महत्त्व दिया जा रहा है। समाज में व्याप्त अपराध वस्तुतः हमारे अन्तर्निहित अन्याय का विस्फोट है, अतः हमें निर्जीव न्याय एवं दंड-विधान से अधिक सामाजिक एवं आर्थिक न्याय को देखना है। फिर भी इतने पर भी यदि अशांति एवं अपराध होते ही हों, तो उनसे जूझने के लिए अहिंसक नागरिक शक्ति का संगठन आवश्यक है।

जनतंत्र के लिए शायद सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि जनतंत्र आज तक विश्व-शांति का कवच और कुण्डल नहीं बन सका है। इसके विपरीत हमारा इतिहास इसका साक्षी है कि कितने ही जनतांत्रिक देश मानवता की छाती पर कुत्सित-से-कुत्सित साम्राज्यवाद, गर्हित-से-गर्हित पूंजीवाद और बीभत्स-से-बीभत्स शस्त्रवाद लादने के कलंक से बच नहीं सकते हैं। जनतांत्रिक देशों की विदेश नीतियों में भी युद्ध का वही उन्माद है, जो तानाशाही हुकूमतों में है। इसलिए मेरी तो अपनी मान्यता है कि साम्राज्य-विस्तार एवं शोषण के साथ प्रजातंत्र का मेल नहीं है।

एक और प्रश्न है—क्या अहिंसा पर अधिष्ठित राज्य-पद्धति अपने को बचा सकेगी? यहां हम इतना ही कह देना चाहेंगे कि इतिहास से आज तक राज्य-पद्धति को स्थायी बनाने के लिए हिंसा के ही सभी प्रयोग किए गए हैं, किन्तु शायद ही केवल हिंसा के बल पर कोई राज्य-पद्धति टिकी हो। जो हिंसात्मक पद्धतियां टिकी हैं या टिक सकी हैं, वे लोकमत की शक्ति का किसी न किसी रूप में सहारा पा कर ही। फिर भी हमारे मानस पर हिंसा की कुछ ऐसी गहरी पकड़ है कि हजारों बार असफल होने के बाद भी उसकी सफलता में हमारी श्रद्धा बनी हुई है। अतः अहिंसा के लिए यह निषेधात्मक प्रमाण हुआ कि हिंसा की कोई पद्धति आज तक टिकी नहीं रही है।

हिंसाशक्ति पर राज्यशक्ति का अधिष्ठान एक गंभीर प्रश्न उपस्थित करता है। हिंसा से हिंसा निकलती है। एक राष्ट्र जितनी हिंसा करेगा, दूसरा उससे अधिक करेगा और तीसरा उससे भी अधिक। ऐसा करते-करते हम संकुल युद्ध (Total War) तक पहुंच जायेंगे। यानी हिंसा-नीति यदि

व्यापक होती गई, तो हम सत्यानाश पर स्वतः पहुंच ही जाएंगे। फिर इस परमाणु-युग में युद्ध या संकुल युद्ध का आयोजन तो क्या चर्चा भी कितनी आत्मघाती एवं अनुत्तरदायित्वपूर्ण है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है ! अतः, हमारे सामने अब तो दो ही रास्ते हैं—करना हो तो अणु-अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित संकुल युद्ध करें या फिर युद्ध करना ही छोड़ दें। यूरोप के पराक्रमी एवं प्रयोगी मनुष्यों ने तीसरा कोई रास्ता रहने दिया ही नहीं। इसके विपरीत अहिंसा में निरन्तर विकास का अवसर रहेगा। इसीलिए अहिंसा का राष्ट्रव्यापी प्रयोग व्यक्तिगत प्रयोग से अधिक सुलभ होगा; क्योंकि व्यक्तिगत मामले में आवेश, क्रोध और पागलपन की भले ही गुंजाइश है, लेकिन इस अणु-युग में राष्ट्रीय युद्ध में दीवानेपन की गुंजाइश नहीं है। इस दृष्टि से अकेला भी अहिंसक राष्ट्र सर्वथा सुरक्षित रहेगा। जो राष्ट्र दूसरों का शोषण नहीं करेगा, जहां श्रमनिष्ठ स्वावलम्बी समाज होगा, जहां की प्रजा को सामाजिक और आर्थिक न्याय मिलते रहेंगे, जहां विश्व भर के लिए मैत्री रहेगी, संकट के समय दूसरे राष्ट्रों की सेवा की तैयारी रहेगी, यदाकदा संघर्ष में किसी निष्पक्ष राष्ट्र की मध्यस्थता के लिए तत्परता रहेगी और अन्तिम स्थिति में आक्रमण के साथ अखण्ड असहयोग एवं अहिंसात्मक प्रतिकार करने की तैयारी रहेगी—ऐसे राष्ट्र के प्रति दुनिया भर में सहानुभूति का वज्र निर्माण हो जाएगा। इसलिए किसी राष्ट्र के अहिंसावादी बनने पर उसके स्थायित्व के विषय में सन्देह सचमुच कल्पना-शक्ति के अभाव का द्योतक है। हिंसा की वेदी पर जितनी भी आहुतियां चढ़ानी पड़ती हैं और उनके बदले जो लाभ अब तक मानवता को मिला है, वह हमारे मस्तिष्क में हिंसा की सफलता के विषय में सन्देह प्रकट कर देता है। इसके विपरीत यदि उतना ही बलिदान हम अहिंसा के लिए करने को तत्पर हो जाएं, तो हमें कम लाभ होगा—यह चिन्तन की दुर्बलता है। लेकिन, हम तो हिंसा के लिए भारी-से-भारी बलिदान को भी कम मानते हैं और अहिंसा के लिए अल्प-बलिदान या अबलिदान की कल्पना कर लेते हैं। वास्तव में यह अन्याय है। वीरों की अहिंसा पर अधिष्ठित समाज या राज्य-व्यवस्था में अराजकता एवं वैदेशिक आक्रमण का भय हमारे चिन्तन की दुर्बलता है।

७. जनतंत्र एवं अहिंसक प्रतिकार : जनतंत्र के संदर्भ में यह कहा जाता है कि चूंकि यह जन प्रतिनिधियों के द्वारा सारा कारोबार चलाता है, प्रशासन विधायिका के प्रति जिम्मेवार रहता है, व्यक्तिगत अधिकारों एवं न्याय की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका, जनमत की अभिव्यक्ति के लिए आवधिक निर्वाचन, मतगणनादि प्रक्रियाओं का विधान है, जिसमें विचार-प्रचार का पर्याप्त अवसर रहता है, इसलिए वहां अहिंसक प्रतिरोध वस्तुतः निरर्थक है। इस प्रकार के चिन्तकों के मानस में सम्भवतः संवैधानिक

प्रजातांत्रिक प्रशासन का कोई दूसरा विकल्प नहीं दीखता। अतः इसके प्रति-कार एवं प्रतिरोध का प्रश्न ही व्यर्थ है। लेकिन सर्वप्रथम तो प्रचलित जनतंत्र ही दोषमय है, जहाँ 'जन' के नाम पर 'पक्ष', एवं पक्ष के नाम पर पक्ष के कुछ तानाशाह प्रपंच एवं पैसे की माया रच कर गद्दी पर बैठे रह सकते हैं। फिर बहुसंख्यकों का क्रूर बहुमत वस्तुतः अल्पसंख्यकों को उपेक्षित, अनादृत एवं अधिकारविहीन कर देता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लोकतंत्र का अधिष्ठान भी लोकशक्ति में नहीं, वरन् दंडशक्ति की प्रतीक पुलिस एवं सैन्यशक्ति में है। इसलिए जिस लोकशाही में लश्कर का स्थान हो, वहाँ अहिंसक प्रतिरोध या सत्याग्रह का स्थान नहीं होगा—यह बात समझ में नहीं आ सकती। जब जनतंत्र की पोशाक में तानाशाही का नग्न नृत्य हो, वहाँ जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित एवं अनिवार्य समाज-परिवर्तन के लिए यदि हम अहिंसक विकल्प का अन्वेषण नहीं करेंगे, तो या तो हम हिंसा-प्रतिहिंसा की आग में भस्म हो जाएंगे या फिर समाज-परिवर्तन के द्वार ही सदा के लिए बन्द हो जाएंगे। फिर तो लोकतंत्र भी नहीं रहेगा। फिर आज जब राज्यशक्ति का दिनानुदिन विस्तार हो रहा है, जब राज्य की काली या उजली छाया परिवार, प्रार्थना, पाठशाला एवं रंगशाला पर भी पड़ रही है, और फिर सत्ता-प्राप्ति की होड़ में पैसे की थैली एवं गुट-बाजों की कलाबाजियाँ कामयाब हो रही हैं तथा उस पर भी नौकरशाही एवं लाल फीताशाही मजबूत होती जा रही हैं, तो जनतंत्र का केवल निर्जीव ढाँचा खड़ा करने से जनतंत्र नहीं बचेगा। इसलिए जनतंत्र परिवार एवं प्राणरक्षण के लिए भी सत्याग्रह की संजीवनी चाहिए। जब लोकशाही जनता का दामन पकड़ कर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, किन्तु दूसरी ओर सत्ता में बने रहने के लिए पुलिस एवं फौज की गोलियों पर ही विश्वास रखती है, जब सामाजिक-आर्थिक न्याय-प्राप्ति के लिए कोई भी वैधानिक उपाय के लिए अवसर ही नहीं रहते हैं; जब आम चुनावों से जनमत के फूसले के कारण राष्ट्रीय समझ-बूझ कुण्ठित-सी हो जाती है, तो उस समय अन्याय के प्रति आत्मसमर्पण या खूनी प्रवृत्ति—इन दोनों के बीच एक मात्र विकल्प सत्याग्रह का रहता है। इस प्रकार का अहिंसक प्रतिकार, इस प्रकार की सविनय अवज्ञा, इस प्रकार के अन्याय के लिए दूसरों को कष्ट दिए बिना स्वयं कष्ट-सहन प्रत्येक नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसको कुचलना वस्तुतः अन्तरात्मा की आवाज को कुचलना है। इसलिए सत्याग्रह वास्तव में सर्जनात्मक एवं साहसिक नागरिकता का प्रशिक्षण तथा अन्याय के प्रतिकार का रक्षा-कवच है। सत्याग्रह-युद्ध में प्रतियुद्ध या परस्पर संघर्ष का स्थान नहीं; क्योंकि यह सत्ता-प्राप्ति के लिए नहीं, सत्ता को शुद्ध करने और उसका सदुपयोग कराने के लिए होता है। उसी प्रकार सत्याग्रह से अराजकता को

भी प्रश्रय नहीं मिल सकता । दुष्ट हेतु से किया गया सत्याग्रह न तो अहिंसक है, न प्रजातंत्र में इसका कोई स्थान है । वास्तव में वह सत्याग्रह है ही नहीं, वह तो दुराग्रह है ।

महावीर और गांधी

महावीर और गांधी भले ही दो शरीर, लेकिन एक मन और एक आत्मा थे। वे दोनों ही एक धातु के दो खंड थे। मेरी अदना अकल में तो महावीर पच्चीस सौ वर्ष के पूर्व गांधी और गांधी बीसवीं शताब्दी के महावीर थे। यदि हम आवतारवाद को मानें तो भगवान महावीर इस युग में गांधी के रूप में अवतरित हुए—संभवामि युगे-युगे। मैं तो विनम्रता पूर्वक कहूंगा कि गांधी जैन धर्म के २५ वें तीर्थंकर थे।

महावीर और गांधी इतिहास-पुरुष ही नहीं काल पुरुष थे। न महावीर क्षत्रिय थे, न बापू वैश्य, न महावीर वैशाली के थे, न गांधी गुजरात के। इसलिए महावीर को जैन और गांधी को हिन्दू मानना भी निरर्थक है। महावीर और गांधी केवल व्यक्ति ही नहीं अपितु विचार भी थे। विचार जब किसी व्यक्ति की मर्यादा में बंध जाता है तो वह वाद बन जाता है, विचार जब किसी धार्मिक आग्रह पर सवार होता है तो सम्प्रदाय हो जाता है। महावीर और गांधी की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उनके विचारों में जकड़न नहीं थी, वचन में आग्रह नहीं था, व्यवहार में आसक्ति नहीं थी।

असल में दोनों ने धर्म के बाह्य कलेवर को गौण, किन्तु धर्म चेतना पर ज्यादा बल दिया। जैन-धर्म, इसी कारण बौद्ध, इस्लाम और इसाईयत की तरह धर्म-विस्तार में नहीं गया, गांधी ने भी किसी को हिन्दू धर्म में दाखिल करने का लाभ नहीं रखा। दोनों ने धर्म के विस्तार में नहीं, अपितु इसकी गहराई में दिलचस्पी दिखाई एवं धर्म-चेतना को परिपुष्ट किया। धर्म-चेतना के मुख्य दो ही लक्षण हैं, जो वेदव्यास ने अठारही पुराण के सार-सर्वस्व रखा था—“परोपकाराय पुरायाय पापाय परपीडनम्” जैन परम्परा की ऐतिहासिक भूमिका एवं भगवान् महावीर के समस्त सिद्धांतों का सार-सर्वस्व इन्हीं दो सिद्धांतों पर आधारित है। लेकिन धर्म-चेतना के ये दो भाव-तन्त्र—“परोपकार को पुराय मानना और परउपकार को पाप समझना”—शून्य में अवस्थित नहीं रहते। देशकाल की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त धर्म-चेतना के दोनों तत्त्व व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में मूर्तमान होने चाहिए। भगवान महावीर के समय भी समाज में ऊंच-नीच के जातिभेद, अस्पृश्यता, नारी-उपेक्षा, कर्मकांड और यज्ञीय-हिंसा आदि, धर्म के ऊपरी कलेवरों ने महावीर की धार्मिक चेतना को चुनौती दी थी और उन्होंने उन्हें स्वीकार करते हुए उन दुर्गुणों के विरुद्ध जेहाद छेड़ कर धार्मिक चेतना को परिपुष्ट

किया। ठीक गांधी ने भी अपने समय में उसी सूत्र को पकड़कर जनान्दोलन किया। धार्मिक चेतना मंद पड़ते ही लोग महावीर की प्रवृत्ति के योग्य नहीं रह सके। लोग सिद्धांत में नारी-उद्धार की बात करते रहे किन्तु व्यवहार में अबलापन के पोषक रहे, ऊंच-नीच और छुआछूत दूर करने की घोषणा भी होती रही, दूसरी तरफ जातिवाद ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव से बच नहीं सके। यज्ञ की हिंसा जरूर कम हुई, लेकिन परिग्रह के कारण शोषण की हिंसा भभकती रही। अपरिग्रह के नाम पर अपरिग्रह का कर्मकांड आया, लोग नंगे पैर घूमे, मुंह पर कपड़े ढके, लेकिन सम्पत्ति का संग्रह और परिग्रह उच्चाम रीति से चलता रहा। दीर्घ परतन्त्रता के कारण भी धर्म-चेतना अशक्त होती गई और धर्म सम्प्रदाय के छोटे-छोटे घरौंदे बनने लगे, धर्म के निमित्त अधर्म का पोषण निवृत्ति के नाम पर निष्क्रियता, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि उदात्त जीवनमूल्यों के ऊपर अश्रद्धा होने लगी। लोगों ने सोच लिया कि सिद्धांत और व्यवहार जगत् अलग-अलग हैं।

ऐसी ही दारुण परिस्थितियों में महात्मा गांधी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने साहसपूर्वक राजनीति के साथ अध्यात्म को, संघर्ष के साथ अहिंसा को और जीवन व्यवहार के साथ अपरिग्रह को जोड़ने की बात निर्भीकतापूर्वक रखी। पहले तो उन्हें सर्वप्रदर्शी और अव्यावहारिक बनाया लेकिन जैसे-जैसे कर्मवीर गांधी एक से एक सामाजिक राजनैतिक अभियान छेड़कर सफल होते गए सारी दिशाएँ उनके श्रीचरणों में झुकती गईं। उनका व्यक्तिगत जीवन यदि “सत्य के साथ प्रयोग” रहा तो उनका सम्पूर्ण असहयोग एवं सत्याग्रह आन्दोलन भगवान् महावीर की धर्म चेतना का “अहिंसा के साथ प्रयोग” मानना चाहिए। सत्य अहिंसा की सार्वभौमिक और सामाजिक कार्यक्षमता पर से लोगों का अविश्वास उठने लगा। जैन समाज में सत्य और अहिंसा के प्रति जन्मसिद्ध आदर था ही, वह मूर्च्छित जरूर थी। गांधी ने उसकी मूर्च्छा को दूर कर दिया। फिर जैन समाज गर्व से उद्घोष करने लगा—“अहिंसा परमोधर्मः। अभी तक अहिंसा दुर्बलता का प्रतीक थी, गांधी ने उसे विराट् रूप देकर शक्तिमान् बना दिया।

जैन समाज ने नर-नारी की समानता की बातें जरूर रखी, हिन्दुओं ने तो बढ़कर नारी को देवी कह दिया—“यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमंते तत्र देवता”, लेकिन व्यवहार में परित्यक्ता लाचारकुमारी ही साध्वी बनती थी, लेकिन गांधी ने बताया कि सच्चा बल तो शरीर-बल नहीं आत्मबल है, उस दृष्टि से यदि नारी अबला है तो पुरुष भी निर्बल है। जहां तक दया, सहानुभूति, त्याग आदि का प्रश्न है, उस दिशा में तो नारी पुरुषों से आगे हैं। इसलिए गांधी ने नारी को सामाजिक प्रतिष्ठा देकर उसे सचमुच देवी बनाया जैन समाज को भी इससे नव-जीवन मिला और साध्वी को लगा कि उनका जीवन श्रेष्ठ है।

बापू ने विवाहित ब्रह्मचर्य के आदर्श को व्यवहार में लाकर जैन-समाज के आदर्शों को सार्थकता प्रदान की। प्राचीन काल में भगवान् महावीर के समय में इस प्रकार की दम्पति के ब्रह्मचर्य की कथा सुनते हैं लेकिन गांधी ने अपने जीवन में इसका प्रयोग कर धार्मिक चेतना को परिपुष्ट किया। गांधी के लिए ब्रह्मचर्य केवल आदर्श नहीं, विशुद्ध व्यवहार था। जीवन के अन्तिम समय में भी उन्होंने स्वयं अपने ऊपर ब्रह्मचर्य के प्रयोग किये और यह सिद्ध किया कि व्यक्ति कितनी ऊंचाई तक जा सकता है।

सबसे सुन्दर बात तो यह कि गांधी ने निवृत्ति और प्रवृत्ति का सुमेल उसी प्रकार साधा जिस प्रकार महावीर ने भी भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिए जैन धर्म में प्रतिष्ठा पूर्वक रहने का अवसर प्रदान किया। गृहस्थ भी सुन्दर सेवक हो सकता है, वह भी आदर्श जैन हो सकता है और भिक्षु का जीवन भी समाजसेवा के बिना अपूर्ण रहेगा। महत्त्व भिक्षुवेश का नहीं, निष्कामसेवा का है। कषाय वस्त्र तो प्रतीक है कि हम अपने अन्तर के कषायों से छुट्टी पा लें तो भिक्षु एवं साध्वी की सार्थकता समाज-सेवा में है और समाज-सेवा का सोष्टव निष्काम एवं निस्पृह भावना में है। सेवा करने का अहंकार तो बुरा है ही, भिक्षु बनकर उसका अभिमान तो और भी बुरा है।

जैन परम्परा को अनेकांत तत्त्वज्ञान और उसके वाचनिक संयंत्र स्याद्वाद पर गौरव होना ही चाहिए। वस्तुतः अहिंसा की साधना के लिए इससे बेहतर किसी यंत्र का आज तक कहीं आविष्कार नहीं हुआ। भावनात्मक अहिंसा का पाठ तो ईसा, बुद्ध आदि सभी धर्म-प्रवर्तकों एवं महापुरुषों ने दिया। लेकिन मनसा-वाचा कर्मण-अहिंसा का व्यावहारिक विज्ञान अनेकांत-स्यादवाद में ही पाया गया है। अनेकांत-भावना वस्तुतः विचार के क्षेत्र में अहिंसा का अनुप्रवेश है। स्यादवाद तो अहिंसा की निर्दोष वाचनिक शैली है जब वस्तु के अनन्त धर्म हैं और मनुष्य का ज्ञान सीमित है तो मानव यह कैसे कह सकता है कि वह जो जानता है, वही सही है। यही कारण था कि भगवान् महावीर अपने प्रवचन में स्यादवाद का सहारा लेकर हर प्रवचन के पूर्व 'स्यात्' का प्रयोग करते थे। किन्तु भगवान् महावीर ने अनेकांत स्यादवाद को जिस प्रकार लोक-व्यवहार में प्रयोगकर उसे सर्वलोक हितकारक बनाया, उसे धर्म-चेतना का प्रवेश मंद होते ही जैन समाज ने उसे भुला दिया। इसके विपरीत अनेकांत के नाम पर भंग जाल और एकांतिक कदाग्रह के भूगडों में फंसे रहे। उन्हें पता नहीं रहा कि अनेकांत केवल शस्त्रीय सिद्धांत या तर्कजाल नहीं बल्कि दैनंदिन जीवन और समाज की बेमेल प्रवृत्तियों के संघर्ष को समाधान करने का एक अनोखायंत्र है। भंगजाल और वाद-विजय तो अनेकांत का बाहरी कलेवर है, उसकी आत्मा नहीं। जीवन के हर क्षेत्रों में विरोधी का समन्वय और कटुता तथा संघर्ष का परिहार ही असली

अनेकांत है। गांधी ने अनेकांत की आत्मा को पहचाना और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय की विराट् चेष्टा की। पंजीवाद और समाजवाद या यों कहें परग्रह और अपरिग्रहवाद का समन्वय उन्होंने अपने ट्रस्टिशिप के सिद्धांत में जिस कौशल से किया, वह अपूर्व है। भगड़ा अमीर से नहीं, उसकी अमीरी से है। यदि वह भामाशाह एव सेठ जमनालाल बजाज की तरह उसे जनता का धरोहर मानता है तो अपनी अपूर्व बुद्धि का समाज को लाभ देता है तो इसमें क्या हर्ज है। सार्वजनिक क्षेत्रों में जो उद्योग चले आज अनाथ बच्चे की तरह उपेक्षित और अनादृत हैं क्योंकि उसे कोई अपना नहीं समझता। राजनीति में भी उन्होंने राज्य-शक्ति के साथ जन-शक्ति को जोड़ने का संदेश दिया। धर्म के क्षेत्र में सर्व-धर्म समभाव तो अनेकांत का व्यावहारिक पाठ है। भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने मिली-जुली हिन्दुस्तानी की जो वकालत की आज वह मानली जाती तो संस्कृत निष्ठ हिन्दी के बोझिल स्वरूप से न दक्षिण वाले कतराते न उर्दू वाले द्वितीय राजभाषा की मांग करते। संक्षेप में गांधी ने अपने जीवन में अनेकांत को उतारा। हां, उन्होंने बराबर विनम्रता-वश कहा कि उनका अनेकांत स्यादवाद विद्वानों का नहीं, एक सामान्य जनता का है। उनकी इस युक्ति में एक ओर उनकी विनम्रता की पराकाष्ठा है दूसरी ओर साम्प्रदायिक वृत्ति से वाद-विजय और भंगजाल का ही अनेकांत मानने पर छिपा हुआ व्यंग।

महावीर ने पंच महाव्रतों के साथ अणुव्रतों के उपदेश दिये। गांधी नित्य प्रति ऐकादशव्रत की प्रार्थना ही नहीं साधना करते रहे। महावीर ने सत्य को धर्म का मूल माना, गांधी का सम्पूर्ण जीवन ही “सत्य के साथ प्रयोग” है। महावीर ने अहिंसा को परम धर्म बताया, गांधी का सम्पूर्ण जीवन उनकी समाज-साधना, उनका सत्याग्रह उनके आर्थिक राजनैतिक अभियान अहिंसा पर आधारित हैं। भगवान् महावीर ने अहिंसा को व्यक्तिगत जीवन में सूक्ष्मता पूर्वक लाने पर जितना जोर दिया, उतना पहले और बाद में भी किसी ने नहीं दिया। अहिंसा को संगठित कर इसे सामूहिक जीवन में दाखिल कर दिया—यह है गांधी का अनोखा आविष्कार। महावीर ने ब्रह्मचर्य को अध्यात्म के लिए सर्वोपरी माना, गांधी ने उसे गृहस्थ जीवन में अपना कर सर्व सुलभ बना दिया। ब्रह्मचर्य की साधना लिए समाज का परित्याग आवश्यक नहीं, वह तो गार्हस्थ्य जीवन में भी साधा जा सकता है। भगवान् महावीर ने निर्वस्त्र होकर अपरिग्रह का आत्यन्तिक पदार्थ पाठ दिया। गांधी ने अर्द्धनग्न रहकर भारत की दुःखी जनता के साथ आत्मीयता प्राप्त की, अपरिग्रह तो साधा ही। यही कारण है कि मैं गांधी को वर्तमान युग का महावीर मानता हूं। अपनी आत्म कथा के अन्तिम वाक्य में गांधी ने जो लिखा है, उससे स्पष्ट होता है कि गांधी वैष्णव कुल में जैन होकर पैदा हुए और ३० जनवरी को महावीर अहिंसा का प्रचार करते हुए शहीद हुए !

खण्ड-५
जैन विश्व भारती का नख
शिखदर्पण

जैन विश्वभारती की वर्णमाला

जिस प्रकार वर्ण के बिना शब्द, शब्द के बिना वाक्य, वाक्य के बिना छंद का विधान नहीं होता है, उसी प्रकार महान से महानतम उद्देश्यों की साधना न्यूनतम “आचार-संहिता” के बिना असम्भव हो जाती है। दूसरे शब्दों में, नींव के पत्थर के बिना महल के गुम्बद और कंगूरों की कल्पना दिवास्वप्न होती है, यथार्थ नहीं। जिस प्रकार वर्णमाला किसी भी व्याकरण का आधार और आरम्भ-तत्त्व है उसी प्रकार किसी भी संस्था के उद्देश्यों के कार्यान्वयन के लिए उसकी वर्णमाला पहले तय करनी चाहिए, अन्यथा बहुत सारे प्रयत्न निष्फल होते हैं, दिग्भ्रम तो होता ही है।

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय कोई धर्मसंघ नहीं है, यह सारस्वत-साधना का तीर्थ है। सत्य की साधना और सत्य का अनुसंधान ही इसका अभीष्ट है—वन्दे सच्चं। सत्य न तो प्राची के हाथ बिका है, न प्रतीची के हाथ। इस पर न मुकरात का स्वाधिकार है, न शंकर का सर्वाधिकार। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में यहां न महावीर के लिए ही राग है, न कपिल के लिए द्वेष—“पक्षपात न में वीरो न रागादि कपिलादिषु।” सारस्वत-साधना इस दृष्टि से धर्म-साधना भी है और भगवत्-साधना भी, क्योंकि यह सत्य की साधना है। यह न किसी व्यक्ति की मर्यादा में कैद हो सकता है, न किसी सम्प्रदाय या किसी ग्रन्थ के खूटे से बंध सकता है। असल में सारस्वत-साधना गंगा की सदाप्रवाहिनी अविरल जलधारा है जिसे किसी ग्रन्थ से बांधना साक्षात् सारस्वती का अपमान है। जिस तरह बंधुआ मजदूर की अस्मिता नहीं होती उसी प्रकार बंधा हुआ ज्ञान ज्ञान नहीं, प्रचारतंत्र है। इसलिए तो कहा गया है—“सा विद्या या विमुक्तये।” लेकिन जो स्वयं मुक्त नहीं हो वह मुक्ति का मार्ग कैसे प्रशस्त करेगा? इसलिए भारती की साधना व्यक्ति और सम्प्रदाय आदि से मुक्त होनी चाहिए। विचार जब किसी व्यक्ति की मर्यादा में कैद हो जाता है तो वह बाढ़ बन जाता है, विचार जब किसी धार्मिक आग्रह पर सवार होता है, तो वह सम्प्रदाय बन जाता है, विचार जब किसी धर्मसंघ या राजतंत्र की दासी बन जाता है तो वह निस्तेज और निर्वीर्य हो जाता है।

यही कारण है कि आचार्य तुलसी ने धर्मसंघ के सर्वोच्च अनुशास्ता रहते हुए भी “जैन विश्वभारती संस्थान” को धर्मसंघ से स्वतंत्र रखवा। अवश्य ही वे विश्वविद्यालय के भी अनुशास्ता के रूप में इसको नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन देते रहेंगे किन्तु संस्था की स्वायत्तता ही इसका

कीर्ति-स्तम्भ होगा। नैतिक और आध्यात्मिक संस्पर्श के बिना जिस प्रकार आज की राजनीति जहर से भी ज्यादा खतरनाक हो गयी है उसी प्रकार नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्व के बिना हमारी शिक्षा बन्ध्या होकर भी व्यभिचारिणी बन गयी है। यही कारण है कि शिक्षा हमारी अनेकानेक सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के बदले स्वयं एक समस्या बन गयी है। शिक्षण संस्थाएं सांस्कृतिक दृष्टि से श्मशान बनते जा रहे हैं। कर्म के बिना ज्ञान या आचार के बिना विचार, व्यर्थ हैं। दुर्भाग्य है कि हमारे देश में धर्म-निरपेक्षता का इतना अजीर्ण हो गया कि हमने धर्म-शिक्षा को शिक्षण-व्यवस्था से ही पूरी तरह अलग कर दिया है। हालांकि संसद ने स्व० डा० प्रकाश की अध्यक्षता में “नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा को शिक्षण व्यवस्था में समावेश करने के लिए एक विज्ञ समिति का गठन किया था किंतु उसकी संस्तुतियों की एकांत उपेक्षा हुई। आज विश्वविद्यालय-परिसर में व्याप्त असंतोष एवं उछूँखलता, मर्यादा का अपक्षय खतरे की घंटी बजा रहा है। इसलिए जिस प्रकार पाणिनी के सूत्रों की रचना शिव के डमरू के निनाद से मानी जाती है उसी प्रकार जैन विश्वभारती की वर्णमाला का निर्माण अनुशास्ता आचार्य तुलसी के नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शन के आलोक में होगा।

मंत्र एवं तन्त्र

हर धर्म का अपना एक संदेश होता है। इस्लाम ने भ्रातृत्व, ईसाइयत ने करुणा हिन्दुत्व ने त्याग का मंत्र दिया तो जैन-धर्म और दर्शन का मूलमंत्र अहिंसा की साधना है। किन्तु आचरण में अहिंसा तब तक प्रतिफलित नहीं हो सकती जब तक विचार में अनेकांत और व्यवहार में अपरिग्रह की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए अनेकांत, अपरिग्रह एवं अहिंसा की त्रिवेणी की साधना ही जैन विश्वभारती का मंत्र होगा। इसी के अनुरूप परस्पर के आधार पर सहमति सर्वानुमति विश्वास और सर्वसम्मति के आधार पर ही निर्णय इसका तंत्र-विधान होगा।

आचार संहिता

विचार निर्गुण हो सकता है लेकिन आचार तो सगुण ही होगा। न्यूनतम आचार-संहिता के बिना संसार की कोई व्यवस्था टिक नहीं सकती फिर “विश्वभारती” जैसी गरिमामयी संस्था की तो अपनी आचार-संहिता होनी ही चाहिए। यही इसका परिचय-पत्र होगा। इस संस्था के विद्यार्थी हों या अध्यापक या अधिकारी सबों के लिए इसके आदर्शों के अनुरूप किन्तु व्यावहारिकता के आलोक में एक आचार-संहिता होनी चाहिए। सौम्य व्यवहार एवं मृदुल शिष्टाचार, आग्रह मुक्त विचार प्रवर्तन, वैचारिक उदारता

और आलोचनाओं के प्रति असीम सहिष्णुता का स्थान देना होगा। सादा जीवन और उच्च विचार के लिए कम से कम, सादी पोशाक, परिसर में व्यसन-मुक्ति और आहार-शुद्धि की मर्यादा तो होनी ही चाहिए। इसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था में आसन-पद्धति एवं अल्पाधिक स्वावलम्बन को अंजाम देने से वातावरण में भारतीयता का मूल्य दीखेगा।

भवन एवं उपस्कर

केवल छात्र-अध्यापक एवं अधिकारी ही नहीं अपितु जैन विश्व भारती के भवन-वास्तुकला एवं उपस्कर के प्रावधान में भी भारतीयता परिलक्षित होनी चाहिए। भवन एवं उपस्कर में तड़क-भड़क नहीं होकर उसमें सादगी एवं कलात्मकता होनी चाहिए। प्राकृतिक वायु एवं प्रकाश निर्बाध रूप से मिल सके। भवन कबूतर खाने की तरह न होकर उन्मुक्त हों ताकि कृत्रिम वायु एवं प्रकाश की कम से कम आवश्यकता हो। भवन के आस-पास पर्याप्त हरीतिमा एवं फल-फूल के उद्यान होने चाहिए। इस स्थिति में गुरुदेव के समय के विश्वभारती (शांति निकेतन) को आदर्श रूप में सामने रखना चाहिए।

पाठ्यक्रम : अध्यापन, प्रशिक्षण, प्रयोग एवं शोध

पाठ्यक्रम की समग्र विधाओं जैसे अध्यापन, प्रशिक्षण, प्रयोग एवं शोध में अनेकांत, अपरिग्रह एवं अहिंसा की त्रयी पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। चाहे वह साहित्य हो या समाज-विज्ञान या जीवन-विज्ञान, हर विषय में इस त्रयी की व्यापकता और गहनता को उजागर करना चाहिए ताकि इस क्षेत्र में हम नया अध्याय जोड़ सकें। फिर जैन विश्वभारती को सम्पूर्ण देश को अपना परिसर मानना चाहिए। इसके लिए यहां पत्राचार व्यवस्था और उन्मुक्त विश्वविद्यालय के रूप का भी विकास करना होगा। कलकत्ता, बंबई, दिल्ली आदि महानगरों में इसकी परीक्षाएं आयोजित कर इसको जनमानस में व्यापक बनाना होगा। अहिंसा के प्रशिक्षण-शिविर अधिक से अधिक लगाने होंगे एवं उत्तीर्ण विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र भी देना चाहिए। यही नहीं पश्चिमी एवं व्यय साध्य शारीरिक खेलों की जगह आसन, प्राणायाम, सूर्य नमस्कार, प्रेक्षाध्यान, कायोत्सर्ग आदि को अधिक प्राधान्य दिया जाना चाहिए।

समाज-सम्पर्क एवं समाज-सेवा— (Extension)

आज के विश्वविद्यालय प्रायः समाज और सामाजिक समस्याओं से कटे हुए रहते हैं। यही कारण है कि वे समाज को सांस्कृतिक और नैतिक नेतृत्व प्रदान करने में अक्षम रहते हैं। विश्वविद्यालय आयोग ने अध्यापन, शोध, प्रशिक्षण के साथ-साथ समाज-सम्पर्क एवं समाज-सेवा को भी पाठ्य-

क्रम के आवश्यक अंग बनाने का निर्देश दिया है। जैसे कर्म को ज्ञान से विलग कर दिया गया है, उसी प्रकार शिक्षण को भी समाज से अलग कर दिया गया है। जैन विश्वभारती इसको उजागर करना चाहेगा। इसके लिए हर पाठ्यक्रम के साथ कुछ अवधि तक समाज-सम्पर्क एवं सेवा-कार्य को अंग बनाना होगा। लाडनू को तो अपना प्रेम-क्षेत्र बनाकर यदा-कदा स्वच्छ लाडनू, नशामुक्त-लाडनू, आदि को अभियान में शामिल करना होगा ताकि समाज को अहसास हो सके कि जैन विश्वभारती हमारी है। इसी प्रकार कम से कम भारत के प्रमुख महानगरों में जैन विश्वभारती मित्र-मण्डल (Friends of Jain Vishva-Bharati) नामक संस्था का निर्माण करना चाहिए जिसके माध्यम से जैन विश्वभारती के उद्देश्यों, कार्यों एवं इसकी समस्याओं से उन्हें परिचित कराना चाहिए। इमसे यहां देश के सभी भागों से छात्र-छात्राएं अध्ययन एवं शोध के लिए आने लगेंगे एवं दाताओं को अपनी सहायता की सार्थकता का भी अवबोध होगा। इसी तरह जैन विश्व-भारती मित्र-मण्डल की हम विदेशों में भी स्थापना करके वहां के भारतीय और जैन समाज को एक बौद्धिक एवं नैतिक नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं।

किसी राष्ट्र की महानता का एक मापदंड है कि उसके विद्यापीठ कितने महान् हैं। प्राचीन भारत में तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय थे। दुर्भाग्य से जैन धर्म अपनी अन्तर्मुखी साधना के चारित्र के कारण इस दिशा में विश्वविद्यालय जैसे संस्थान की प्रतिष्ठा कर नहीं सका यों आधुनिक समय में स्याद्वाद विद्यालय, पार्श्वनाथ विद्याश्रम आदि छिटपुट कई सुन्दर प्रयत्न हैं। यह श्रेय आचार्य तुलसी को है कि इन्होंने जैन विश्वभारती का स्वप्न साकार कर एक बड़े अभाव की पूर्ति की। समस्त जैन समाज तो इसके लिए कृतार्थ होगा ही, भारतीय विद्या-प्रेमियों के लिए यह एक दैवी एवं दिव्य उपहार होगा। भारतीय संस्कृति में मुख्य तीन धाराएं हैं—लोकयत, वैदिक एवं श्रमण। वैदिक धारा के वाङ्मय की साधना प्रत्यक्ष है, विस्तार के कारण बौद्ध-विद्या की साधना के भी भारत एवं विश्व में अनेक केन्द्र हैं लेकिन जैन विद्या मूलतः अपने ही साधकों के पुरुषार्थ से सम्पन्न होता रहा है। इसलिए शुद्ध सारस्वत-साधना एवं भारतीयता की समग्र भावना को दृढ़ करने के लिए भी जैन विश्वभारती अपेक्षित है। इसे हमें न साम्प्रदायिकता से जोड़ना चाहिए, न कर्मकांड से, यह तो स्वस्थ जीवन दर्शन की साधना का एक सात्विक केन्द्र होगा।

जैन विश्वभारती : अहिंसा की प्रतिध्वनि

जैन विश्वभारती को मान्य विश्वविद्यालय का दर्जा मिलते ही इसके पाठ्यक्रम, अध्यापक और अध्येताओं के विषय में कुछ कम पर इसके स्थापत्य, भवन-निर्माण और इसकी साज-सज्जा पर अधिक चर्चा होने लगी। मेरा शुरू से मानना रहा है कि जैन विश्व भारती को जैन-संस्कृति के प्रतीक रूप में विकसित होना चाहिये। युवाचार्य जी ने इसे और भी परिष्कृत करते हुए कहा—“यहां सब चीजों में अहिंसा की प्रतिध्वनि होनी चाहिये।”

जैन संस्कृति के दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य रूप में इसके शास्त्र, भाषा, स्थापत्य, मन्दिर एवं मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार और उपकरण, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्योहार आदि हैं। लेकिन बाह्य अंगों के होते हुए भी जैन-संस्कृति का हृदय नहीं है, तो वे सब निष्प्राण हैं। जैन-संस्कृति का हृदय केवल जैन समाज या जाति में ही सम्भव है, ऐसी बात नहीं। जैन कहलानेवालों में भी जैन संस्कृति की आन्तरिक योग्यता नहीं हो सकती है और जैनेतर व्यक्तियों में भी वह सम्भव है। असल में संस्कृति की आत्मा इतनी व्यापक और स्वतंत्र होती है कि उसे देश, काल, जात-पात, भाषा और रीति-रिवाजों में ही सीमित नहीं कर सकते।

जैन संस्कृति का हृदय निवर्तक-धर्म है, यही उसकी सच्ची धर्म-चेतना है। इस आन्तरिक स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ उसी का होता है जो इसे अपने जीवन में तन्मय कर लें, जो ऐसे जीवन बिताने वाले पुरुषों के व्यवहारों से तथा आस-पास के वातावरण पर पड़ने वाले प्रभावों से ही सम्भव है।

लोकायत या चार्वाक मतवादी केवल मौजूदा जन्म का ही विचार करते हैं। वे वर्तमान जीवन से परे किसी अन्य सुख की कल्पना से न प्रेरित होते हैं न उसके साधनों की खोज में समय बिताना समुचित समझते हैं। उनकी दृष्टि में अर्थ और काम—यही दो पुरुषार्थ हैं। दूसरा वर्ग जीवनगत सुख को साध्य मानता है पर धर्मानुष्ठानों की आकांक्षा रखता है। प्राचीन ईरानी जरथ्रुत्ती धर्म एवं कर्म को ही मीमांसा-दर्शन आदि ऐसे ही प्रवर्तक धर्म माने गये हैं। प्रवर्तक धर्म समाजगामी होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समाज में रहकर ही ऐहिक जीवन से सम्बन्धित सामाजिक कर्तव्य एवं पारलौकिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले धार्मिक कर्तव्यों के पालन करने का विधान रहता है।

इनके विपरीत निवर्तक-धर्म लोकान्तर एवं जन्मान्तर के साथ जन्म-चक्र के आधार आत्म-तत्व को तो मानता है लेकिन जन्मान्तर से प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिरस्थायी सुख से संतुष्ट नहीं होता। वह ऐसे सुख की खोज में रहता है जो एक बार प्राप्त होने पर कभी नष्ट न हो। यही मोक्ष की कल्पना हैं जो स्वर्ग या अपवर्ग से आगे है। इस दृष्टि से न केवल बौद्ध एवं जैन बल्कि उपनिषद्, वेदान्त, न्याय वैशेषिक एवं सांख्य-योग भी निवर्तक-धर्म पर ही अवस्थित हैं।

प्रवर्तक धर्म जहाँ समाजगामी है, निवर्तक-धर्म व्यक्तिगामी है जो आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट कृति में से उत्पन्न होने के कारण आत्म-तत्व के ऊपर चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के लिये प्रेरित करता है। गृहस्थाश्रम भी इसके लिये अभीष्ट नहीं जबकि प्रवर्तक-धर्म उसके उल्लंघन की कल्पना नहीं करता। संक्षेप में निवर्तक-धर्म के निम्नलिखित विचार एवं आचार हैं—
१. आत्मशुद्धि २. आत्म-शुद्धि के मार्ग में बाधक आध्यात्मिक मोह, अविद्या और तृष्णा का मूलोच्छेद ३. आध्यात्मिक ज्ञान ४. आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त मनुष्यों के वचनों का प्रमाण ५. जन्मना जाति प्रथा के खिलाफ योग्यता एवं गुरुपद की कसौटी को आध्यात्मिक जीवन-शुद्धि मानना। ६. मद्य-मांस का सामाजिक जीवन में निषेध।

ब्राह्मण-परम्परा के मूल में “ब्रह्म” है जबकि श्रमण-परम्परा समता, शमन और श्रम के आस-पास विकसित हुई। ब्राह्मण-परम्परा में स्तुति, प्रार्थना और यज्ञ-यागादि कर्म का महत्व है, जिस कारण पुरोहित वर्ग का अभ्युदय हुआ और समाजपुरुष का मुख “ब्राह्मण” को माना गया, जबकि श्रमण, धर्म, जाति, वर्ण, लिंग का भेद नहीं मानकर सब को समान रूप से सत्कर्म एवं धर्म का अधिकारी मानता है। श्रमण धर्म ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मानकर निःश्रेयस को एकमात्र उपादेय मानता है इसलिये साध्य की तरह साधनगत साम्य पर भी उतना ही जोर देता है।

निःश्रेयस के साधनों में मुख्य है—अहिंसा। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से कष्ट नहीं पहुंचाना ही अहिंसा है। लेकिन अहिंसा की भावना के साथ-साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से ग्रथित है, जिसके द्वारा आत्मशुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होगा। असल में रागद्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप, या जिस त्याग से न हो सके वह आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। श्रमण-धर्म की मूलभूत भावना साम्य-दृष्टि ही है। अतः साम्य दृष्टि मूलक और साम्य दृष्टि पौषक जो आचार-विचार हो वे सब ‘सामाइन’ हैं। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में गायत्री सबके लिये आवश्यक है, उसी

प्रकार जैन परम्परा में “सामाड्य” हैं। इसलिये जब-जब श्रावक धार्मिक जीवन स्वीकार करता है तब-तब वह “करेमि भंते सामाड्य” ऐसी प्रतिज्ञा करता है। “सामाड्य” करने का अर्थ है, समता या समभाव को स्वीकार करना। यही साम्य-दृष्टि गीता में भी है—“समत्वं योग उच्यते।” “सुख-दुःख समेकृत्वा लाभालाभौ जया जयो।” वस्तुतः यह साम्य-भावना चित्त-शुद्धि, स्थितप्रज्ञता या वीतरागता का ही फल होगा। यह साम्यदृष्टि आचार एवं विचार दोनों में अभिव्यक्त हो सकती है। जैन धर्म का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सभी आचार साम्य-दृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र के आस-पास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार और विचार के द्वारा अहिंसा की दृष्टि एवं रक्षा न होती हो ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्य नहीं रखती। अहिंसा जब विचार-क्षेत्र में आती है तो उसे हम अनेकांत दृष्टि कहते हैं और जब वाचिक दृष्टि से विचार करते हैं तो वह स्याद्वाद-दृष्टि कहलाती है।

तो साम्य के लिये मूल प्रश्न है अहिंसा की प्रतिष्ठा। चाहे वह आत्मविद्या के द्वारा हो या कर्म-विद्या के द्वारा या चारित्र-विद्या या लोकविद्या आत्मविद्या कहती है कि यदि जीवन व्यवहार में साम्य का अनुभव नहीं हो तो आत्म-साम्य कोरा सिद्धान्त मात्र है। जैसे हम अपने दुख का अनुभव करते हैं, वैसा ही पर-दुख का भी अनुभव करना है। यदि दूसरों के दुख का आत्मीय दुख रूप से संवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध भी नहीं होती। उपनिषद् एवं वेदान्त अहिंसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नहीं बल्कि अद्वैत के आधार पर करते हैं। उनके अनुसार सभी जीव शुद्ध ब्रह्म ही हैं। जीवों का पारस्परिक भेद वास्तविक न होकर अविद्यामूलक है। अतः अन्य के दुख को अपना दुख समझ लेना चाहिये। उनके अनुसार यह अभिन्नता का भाव ही अहिंसा की जननी है।

कर्म-विद्या के अनुसार भी यदि विचार करें तो अज्ञान और रागद्वेष ही कर्म है। अज्ञान के कारण जो-जो विचार पैदा होते हैं, वही तो राग-द्वेष हैं जो हिंसा के प्रेरक हैं। अतः हिंसा का असली जड़ अज्ञान ही है। अपने पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या दर्शनमोह हैं। यदि हम यह जान लें कि हर प्राणी में एक ही आत्म-तत्त्व है तो फिर हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठेगा। दूसरा कोई है ही नहीं, अतः दूसरे का अनिष्ट अपना ही अनिष्ट करना है। सभी आत्म-वादी दर्शनों में यह आम सहमति है।

चारित्र का कार्य भी जीवनगत वैषम्य के कारणों को दूर करना है। आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रांति चारित्र के विकासक्रम पर अवलम्बित है। बहिरात्मा में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता है, उससे ऊपर आत्मज्ञान का उदय तो होता है, लेकिन राग-द्वेष कायम रहते हैं। तीसरी भूमिका परमात्मा

की हैं जहाँ राग-द्वेष का उच्छेद एवं वीतरागत्व प्रकट होता है ।

लोक-विद्या के अनुसार जीव और अजीव या जड़ और चेतन दो तत्त्व हैं । संसार काल में चेतन के ऊपर एकमात्र जड़ (परामणु पुंज पुद्गल) हैं । चेतन तत्त्व की सहज शक्तियाँ असीम हैं किन्तु जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव क्षेत्र ही लोक हैं और उससे छूटकारा पाना ही लोकांत है । आत्म-तत्त्व पर कर्म-पुद्गल का प्रभाव ही आश्रव हैं जो बंधन का कारण हैं । यहाँ भी राग-द्वेष एवं कषायों से मुक्त होना ही है । यही वीतरागत्व है ।

संक्षेप में जैन-चिन्तन का सार सर्वस्व राग-द्वेष से ऊपर उठना है, यही उसकी साम्यदृष्टि है । यही उसका वीतरागत्व है ।

हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषों से बिना बचे सद्गुणों में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और सद्गुण-पोषक प्रवृत्तियों को बिना जीवन में स्थान दिये हिंसा आदि से बचे रहना असम्भव है । हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन में स्थान देते जाएं । अहिंसा की जीवन-साधना आत्मौपम्य भावना विकसित किये बिना और अहिंसा का समाज-धर्म अपरिग्रह की साधना के बिना असम्भव है । अतः “अहिंसा परमोधर्मः” के पूर्व “अपरिग्रह परमोधर्म” की साधना आवश्यक है । अहिंसक जीवन शैली में वैभव के वीभत्स प्रदर्शन और विलास का बाहुल्य एक असंगति है । इसलिये तो आचार्य श्री तुलसी का जीवन मंत्र है—“संयमःखलु जीवनम् ।” जिस प्रकार शरीर के बिना प्राण की स्थिति असम्भव है, वैसे ही धर्म-शरीर के बिना धर्म-प्राण की स्थिति भी कष्टमय है । जैन-संस्कृति का धर्म-शरीर भी संघ-रचना, वाङ्मय, तीर्थ, मन्दिर, शिल्प स्थापत्य, उपासनाविधि, आदि अनेकों रूप में विद्यमान है । इन सब में अहिंसा की प्रतिध्वनि होनी चाहिये ।

इसलिये जैन विश्वभारती को मान्य विश्वविद्यालय बनने की घोषणा के उत्साह में जब यहाँ पांच सितारे होटलों की तरह अतिथि-भवन, प्रशासकीय या पाठ-भवन निर्माण करने एवं तदनु रूप उसकी साज-सज्जा जुटाने को सोचा जाता है तो लगता है कि हमने जैन-संस्कृति के प्रतीक जैन विश्व-भारती की आत्मा का दर्शन नहीं किया है । जैन विश्वभारती का अपना दर्शन है और उसके अनुरूप ही इसकी स्थापना सुदूर राजस्थान जैसे मरु-प्रदेश में की गयी है जो जिला या अनुमंडल का भी मुख्यालय नहीं है । आचार्य श्री तुलसी चाहते तो दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता आदि किसी महानगर में इसकी स्थापना कर सकते थे । शायद वहाँ कई तरह की सुविधाएँ भी होतीं । लेकिन उन्होंने इसके लिये एक छोटे से गाँव को चुना, जैसे गुरुदेव ने शान्ति-निकेतन, श्री अरविन्द ने पांडिचेरी, महर्षि श्रद्धानन्द ने हरिद्वार के गुरुकुल कांगड़ी को शिक्षा का केन्द्र चुना था । आज के नगर एवं महानगर

परिग्रह एवं विलास के प्रतीक हैं। वहां अहिंसा की जीवन-शैली विकसित करना काफी कठिन है। अहिंसा के विकास के लिये परिग्रह का परिवेश और अहिंसा के लिए परिकर आवश्यक हैं। अपरिग्रहीपरिवेश के लिए प्राकृतिक परिवेश एवं पर्यावरण-संतुलन पर अधिक ध्यान रखना होगा। आने वाले समय में उस संकट के साथ जल का भी संकट होने वाला है। जब पेरिस जैसे रंगीन शहर के पास गांधी के शिष्य लांजा-डी-वास्ता एक गांव में आश्रम जीवन चला सकते हैं तो जैन विश्वभारती के लिए यह कठिन नहीं है। सौर-ऊर्जा का मरूप्रदेश में बाहुल्य है ही, क्यों नहीं हम सौर-ऊर्जा को यहां विकसित कर राष्ट्र को दिशा दें? इसी तरह बायोगैस, गोबर गैस के भी प्रयोग हो सकते हैं। बड़े-बड़े ऊंचे एवं कबूतरखाने वाले मकानों की अपेक्षा सदा प्रकाश, वायु मिलने वाले, उद्यानों एवं पेड़-पौधों में ढके अरण्य की की गोद में जैन विश्वभारती को देखना कितना सुन्दर होगा जहां पक्षियों के कलरव होते रहेंगे। मानव और मानवेतर का यह संधि-स्थल होगा। आज बड़े बंगलों एवं ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं में जल का अत्यधिक व्यय होता है, क्योंकि फ्लश-पद्धति के परवानों में तथा टब-सिस्टम के गुशलखानों में काफी पानी चाहिये। हमें न केवल आहार में निरामिष होने का आग्रह रखना चाहिये बल्कि स्नानघर एवं शौचालय आदि के निर्माण में भी अंधाधुंध जल-खर्च को रोकना चाहिये।

भवन-निर्माण, जहां तक सम्भव हो एक तल का सादा, प्रकाश एवं वायु के लिए खुला और मजबूती लिए हुए कम से कम खर्च का होना चाहिये जिसमें आस-पास की वस्तुओं एवं कारीगरों का अधिक उपयोग हो। यहां पीने को थोड़े खर्च होने वाले पानी का हर बूंद का पेड़-पौधों की सिंचाई के लिए उपयोग होना चाहिये। भड़कीले कीमती और शानदार उपकरणों के बदले सादे तरह की चीजें रहें। जहां तक वर्ग में विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के बैठने का प्रश्न है, ग्रामोद्योग की बनी चटाई एवं काठ के पाठ डेस्क हो। यही कुलपति से लेकर अन्य प्रशासनिक दफ्तरों में रहे। इससे लाखों रूपये की बचत होगी और फर्नीचर बढ़ाने की प्रतियोगिता पर स्वतः एक बंधन लगेगा। जीवन में सादगी एवं स्वावलम्बी वृत्ति आएगी। दफ्तर के अनिवार्य कार्यों को छोड़ परावलम्बी वृत्ति को बढ़ावा देने के लिए विश्वविद्यालय का स्टाफ किसी का घरेलू नौकर नहीं होगा। जहां तक होगा लोग अपना काम स्वयं करेंगे। छात्रावासों में अपने कक्षों की सफाई छात्र-छात्रा स्वयं करेंगे। भोजनोपरान्त अपने बर्तनों की सफाई भी करने में क्या हर्ज है? इससे आश्रम जीवन में अहिंसा की प्रतिध्वनि मिल सकेगी।

दंड विधान तो होगा नहीं। विद्यार्थियों का एक संसद होगा जिससे वे कर्त्तव्य-विभाजन के आधार पर अपने दायित्व संभालेंगे। दास एवं सामंती

परम्परा के बदले मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ आदि पर आधारित पारिवारिक प्रेम, अनौपचारिक एवं विनम्र व्यवहार यहां के मूलाचार होंगे। यद्यपि विश्वविद्यालय का कोई अपना गणवेश नहीं होगा फिर भी वस्त्रों की सादगी, स्वच्छता पर जोर दिया जाएगा। जापान की तरह दफ्तर या वर्ग या अपने कक्ष में भी जूते-चप्पलों के साथ प्रवेश नहीं होगा ताकि स्वच्छता बनी रहे। जमीन में खुले पैरों से चलने की कुछ तो आदत हो, स्वच्छ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह ठीक है। हमेशा मोजे एवं जूतों में पैरों को गिरपतार रखने की जरूरत ही क्या है ?

विश्वविद्यालय की स्वायत्तता का समुचित आदर होना चाहिये। स्वतंत्रता में अहिंसा है, परतंत्रता एवं दमन में हिंसा। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने गाया है कि “हे प्रभो हमें उस देश में ले चलो जहां संकीर्णताओं से हमारा मन मुक्त हो और हमारा सिर ऊंचा हो। स्वायत्तता के बिना विश्वविद्यालय एक बौद्धिक मरूस्थल है जहां सृजन अवरुद्ध हो जाता है। शिक्षा जब सत्ता या सम्पत्ति की दासी बन जाती है तो वह निस्तेज व निर्जीव हो जाती है। पंथ, सम्प्रदाय या मतवाद का बंधन भी बंधन ही होता। स्वतंत्र होकर अपने विचारों की अभिव्यक्ति का यहां पूर्ण अवसर देना ही अहिंसा देवी की आराधना है। यही तो अनेकांत है। सत्य के अनेक रूप एवं आयाम होते हैं। लेकिन विचार की स्वतंत्रता एवं विविधता से आचरण की पवित्रता एवं संस्थागत मान्य आचार संहिता का कोई विरोध नहीं। अध्यापकों एवं अन्य सेवकों की सेवा संहिता का आदर भी होना चाहिये लेकिन संस्था की आचार-संहिता का अनुपालन भी।

जैन विश्वभारती वस्तुतः अहिंसा-पीठ के रूप में विकसित होगी। भारतीय संस्कृति का विश्व-संस्कृति को यही अवदान है। प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नलड टायनबी शायद भारतीय आध्यात्मिक धरोहर को संकेत करते हुए कहते हैं कि “मानवता के इस अभूतपूर्व संकट के समय भारत का अध्यात्म और इसकी अहिंसा ही एकमात्र विकल्प है।” जैन विश्वभारती अध्यात्म को विज्ञान से एवं अहिंसा को मनोविज्ञान से जोड़कर एक नयी दिशा देगा। नोबल पुरस्कार विजेता अलेक्सिस कैरेल ने जिस “मानव-विज्ञान की अपनी पुस्तक “मैन द अननोन” में चर्चा की है, जैन विश्वभारती उसे “जीवन-विज्ञान” एवं साधन स्वरूप “प्रेक्षाध्यान” के रूप में विकसित करने को प्रतिबद्ध है। अहिंसा की साधना और उसके प्रयोग की दिशा में सांस्कृतिक नेतृत्व करना इसका मुख्य प्रयोजन होगा। अहिंसा के लिए विश्व में जितने प्रयोग हो रहे हैं, उनका समन्वय एवं उससे सहयोग करना इसका अभीष्ट होगा। शांति के ऊपर यहां आयोजित पिछले दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से ऐसा आत्मविश्वास जगा भी है। आगम एवं प्राकृत-संस्कृत वाङ्मय के

अवगाहन के साथ विश्व में अहिंसा-संस्कृति का मेल बिठाकर उसे समुन्नत करते जाना होगा । यहां से निकली अहिंसा की प्रतिध्वनि जागतिक रूप में व्याप्त हो सके ।

जैन विश्वभारती बनाम जैन विश्वभारती

जिस समय आज से २२ वर्ष पूर्व आचार्य तुलसी ने लाडूनूँ जैसे एक छोटी तहसील में “जैन विश्वभारती” की स्थापना की थी, उस समय उनकी भी कल्पना नहीं थी कि यह “जैन-भारती” एक दिन “विश्वभारती” बन जाएगी। आचार्य श्री के शब्दों में शायद ‘यही इसकी नियति थी।’ इसलिए यह असम्भव सम्भव हो सका और उनका अकल्पित स्वप्न भी साकार हुआ। गंगोत्री में गंगा को देखकर कौन कल्पना करेगा कि गंगासागर पहुंचते-पहुंचते गंगा का यह विराट् रूप हो जायगा ? जिस प्रकार नदी की नियति है कि वह समुद्र की ओर बढ़ती जाती है, उसी प्रकार छोटी सी जैन विश्वभारती की भी यही नियति थी कि उसे वर्तमान नालन्दा और तक्षशिला बनने का दायित्व लेना होगा—

“यथा नदीनां बहवो अम्बुवेगाः ।

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ॥

जैन विश्वभारती का विश्वविद्यालयीय आयाम वस्तुतः इसका विराट् रूप है। मान्य विश्वविद्यालय भले वैधानिक दृष्टि से पृथक् और स्वतंत्र संस्था के रूप में हो—लेकिन वास्तविक और भावनात्मक रूप से दोनों एक ही परिवार हैं। अतः दोनों में पार्थक्य का दर्शन ही दोषमूलक है। दूसरी दृष्टि से भी विचार करें तो “जैन विश्वभारती” मातृ-संस्था है और “जैन विश्वभारती मान्य विश्वविद्यालय” इसका मानस-पुत्र है। अतः विश्वविद्यालय की प्रगति और समृद्धि मातृ-संस्था के लिए गौरवमय सुख का विषय होगा। शास्त्र में कहा ही जाता है—“पिता पुत्र से पराजय चाहता है, गुरु शिष्य से पराजय चाहता है।”

“पुत्रात् इच्छेत पराजयम् । शिष्यात् इच्छेत पराजयम् ।”

जिस विश्वविद्यालय—शिशु को जैन विश्वभारती माता ने जन्म दिया उसका लालन-पालन, उसका वैभव और उसका अक्षय सुख भी उसका अभीष्ट है। शिशु-संस्था भी माता के प्रति अपना आदर एवं कर्त्तव्यबोध यदि विस्मृत करेगा तो यह कृतघ्नता होगी। बात रही माता के व्यवहार की। माता प्रतिदान की आकांक्षा नहीं रखती, वह तो केवल बलिदान और आत्म-बलिदान ही जानती है। संतान अबोध होकर कभी मां की उपेक्षा कर भी सकती है लेकिन मां तो कुछ अन्यथा सोच भी नहीं सकती है—

“माता न कुमाता हो सकती ।
हो पुत्र कुपुत्र भले कोई ।”

जैन विश्वभारती मातृत्व की महत्तम अधिकारिणी है । इसलिये मातृ-संस्था के द्वारा विश्वविद्यालय के संविधान निर्माण के समय इस बात का पर्याप्त ध्यान रखा गया है कि विश्वविद्यालय के सभी निकायों में मातृ-संस्था की पर्याप्त छाया रहे । विश्वविद्यालय का संविधान तो ऐसा बनाया गया है कि विश्वविद्यालय के निकाय वस्तुतः सरकार एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोगों के अनिवार्य प्रतिनिधित्व को छोड़ वस्तुतः मातृ-संस्था के ही प्रतिनिधि हैं । विश्वविद्यालय के सर्वोच्च पदाधिकारी कुलाधिपति वस्तुतः मातृ-संस्था द्वारा ही अनुशास्ता के परामर्श से मनोनीत होंगे । विश्वविद्यालय के प्रधान कार्यकारी पदाधिकारी कुलपति के मनोनयन करने वाले चार सदस्यों में तीन तो मातृ-संस्था से ही सम्बद्ध हैं अतः कुलपति का मनोनयन भी मातृ-संस्था के ही कुशल हाथों में है । शिष्ट परिषद् (सीनेट) हो या प्रबन्ध मंडल (सिडीकेट), विद्या परिषद् (एकेडमिक काउन्सिल) या वित्त समिति, योजना समिति हो या चयन समिति सभी में मातृ-संस्था के प्रतिनिधियों का इतना प्रगल्भ वर्चस्व है कि उन्हें किसी प्रकार की दुशंका या दुःचिन्ता के लिये गुंजा-इश ही नहीं है । इसका अर्थ यह नहीं कि जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्वायत्तता नहीं होगी । स्वायत्तता के अभाव में विश्वविद्यालय निर्जीव एवं निस्तेज रहेगा । विश्वविद्यालय की शैशवावस्था में मातृ-संस्था की ममता ही इसकी सुरक्षा की सर्वोत्तम गारंटी है । आज तो वित्तीय संकट के कारण सभी विश्वविद्यालय दरिद्रता का दुःख भोग रहे हैं । ओवर ड्राफ्ट एवं बिलंबित भुगतान विश्वविद्यालयों में एक आम बात हो गयी है । इस सन्दर्भ में मातृ-संस्था द्वारा विश्वविद्यालय के सम्पूर्ण व्यय का दायित्व स्वीकार करना एक दुर्लभ सुयोग तो है ही, एक घोषित वरदान भी है । निर्माण एवं दैनंदिन के खर्चों की चिन्ता से रहित होकर ही आचार्य श्री तुलसी की यह आध्यात्मिक और सारस्वत संतान उनके सपनों को साकार करने में समर्थ होगी । महान दार्शनिक डा. राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थराज “भारतीय दर्शन” का प्रारंभ करते हुए प्रथम अविस्मरणीय पंक्ति में कहा ही था— “चिन्तनशील मस्तिष्क के प्रस्फुटन, कला एवं विज्ञान के विकास की पहली शर्त है कि एक स्थायी समाज व्यवस्था हो जहाँ सुरक्षा और अवकाश का अवसर हो ।” — असुरक्षा और अभाव के कारण जीवन-संग्राम की कठोरता से जूझते रहने पर सृजन भी सम्भव नहीं है । यही कारण था कि प्राचीन भारतीय आचार्यगण अपनी आजी-विका की चिन्ता से मुक्त रहकर समाज को शिक्षा का दुर्लभ दान दिया करते थे । समाज उन्हें जीविका की चिन्ता से केवल मुक्त ही नहीं रखता था बल्कि उन्हें सर्वोच्च सम्मान भी दिया करता था । वेद ने कहा ही है—“ब्राह्मणो

मुखमासीद्”। असल में सृजन एक महान् आध्यात्मिक कार्य है जिसके लिये अन्तःप्रेरणा और अन्तःप्रेरणा के लिये स्वतंत्रता परमावश्यक है। गुरुदेव ने इसीलिये तो जगन्नियन्ता से प्रार्थना की थी—“हे प्रभो, मुझे वहां ले चलो जहां मन स्वतंत्र है। और स्वाभिमान से हमारा सिर ऊंचा हो”। संक्षेप में सारस्वत-साधना न तो दंड-भय से संभव है, न लाभ-हानि के संकीर्ण वणिक् वृत्ति से। यह तो मानव की स्वतन्त्र और सृजन वृत्ति की अभिव्यक्ति है।

जैन विश्वभारती की कल्पना ही एक सर्जनात्मक वृत्ति है। यह कोई सुनियोजित कल्पना के आधार पर नहीं बनी है। एक ही चिन्तन था कि मरु-स्थल में कल्पवृक्ष की कामना। मानसरोवर में तो सब कुछ सम्भव है किन्तु मरुस्थल में इसकी कल्पना अद्वितीय है। अतः इसका प्रारंभ भी अपूर्व है और इसका आदर्श “जैन विद्या के नालन्दा-तक्षशिला का निर्माण” करना भी अद्वितीय है। जैन विश्वभारती में ऐसा भौतिक और आध्यात्मिक आकर्षण हो कि इस मरुस्थल में भी लोग यहां आने से नहीं घबड़ायें। इसलिये विश्व-विद्यालय को पत्राचार-पाठ्यक्रम एवं प्रसार कार्यक्रमों के द्वारा व्यापक करना होगा। विश्वविद्यालय को पार्श्व और विशेषकर ग्रामीण जनता से जोड़ना होगा ताकि इसे शाश्वत पोषण मिलता रहे। कार्य चिरजीवि तब होता है जब उसमें जनता का सहभाग एवं सहयोगिता होती है।

यह शुभ लक्षण है कि सदियों के बाद जैन-विद्या और अहिंसा की संस्कृति की ओर आकर्षण बढ़ रहा है लेकिन साथ-साथ यह दुर्भाग्य है कि जैन-विद्या के विद्वानों की आज बड़ी कमी है। अतः सामान्य रूप से भारतीय समाज का और विशेष रूप से जैन समाज का यह दायित्व है कि जैन विद्या, प्राकृत, अनेकांत और अहिंसा आदि के विद्वानों को तैयार किया जाय। दो वर्षों में ४-५ विद्वान भी तैयार किये जा सकें तो सार्थकता सिद्ध होगी। जैन केन्द्रों में जैन विश्वभारती अपने विद्वानों को भेजकर एक सांस्कृतिक-क्रांति का श्रीगणेश करे। यही नहीं जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय इस स्तर का बने ताकि दूसरे-दूसरे देशों के विद्यार्थी भी यहां आ सकें। प्रशिक्षण और प्रयोग को भी यहां प्राथमिकता मिलनी ही चाहिये ताकि एक आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की यह कार्यशाला बन जाय। इसलिये जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय के लाभ-हानि का तलपट वर्ष और महीने का नहीं, कम से कम एक शताब्दी का बनना चाहिये। शांति शोध, अपरिग्रह विज्ञान, जीवन विज्ञान और प्रेक्षाध्यान को लेकर तो जैन विश्वभारती अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में सफलता पूर्वक जा सकता है। जैन विश्वभारती के निर्माण में जैन समाज हर-गिज हल्के ढंग से नहीं सोचे। यदि यह नियति थी कि जैन विश्वभारती बने तो यह भी नियति है कि जैन विश्वभारती एक उदाहरण बन जाये। यह

आचार्य तुलसी की आकांक्षा है। इसलिये मातृ-संस्था को यदि अपना सर्वस्व भी समर्पण करना पड़े तो करे क्योंकि जैनविद्या की सारस्वत-साधना करना ही इसका उद्देश्य था। धर्मसंघ के धार्मिक कार्यकलापों के लिये तो अनेक संस्थायें हैं ही—तेरापंथी महासभा, तेरापंथी युवा मंडल, तेरापंथी महिला मंडल। यही कारण है कि जैन विश्वभारती के उद्देश्य एवं कार्यक्रमों के व्यवस्थापन और इसके संविधान में भी कहीं पांथिक और तेरापंथ के साम्प्रदायिक मनोभाव या शब्द के दर्शन नहीं। अतः यह मानना चाहिये कि जैन विश्वभारती को विश्व-विद्यालय स्वरूप प्रदान करने में जैन विश्वभारती का अपना मूल उद्देश्य पूरा होता है। अतः इसके संवर्द्धन और संस्कार में अधिकाधिक उदारता और वात्सल्यमय त्याग अपना ही कर्तव्य पालन है। हां विश्वविद्यालय की अपनी सीमायें हैं। यह बच्चों से लेकर माध्यमिक स्तर तक पाठ्यक्रम को अपने द्वारा संचालित नहीं कर सकता। अतः मातृ-संस्था को प्राथमिक शिक्षा का दायित्व रखना ही होगा। इससे विश्वविद्यालय को लाभ होगा और उसे यहां से सुपात्र विद्यार्थी अबाध रूप से मिलते रहेंगे। इसी प्रकार मुमुक्षु बहनों, साधु-साधिवियों, श्रमण एवं श्रमणियों की शिक्षा तथा नयी-पीढ़ी एवं देशभर में में जैन-धर्म की परीक्षाओं एवं ज्ञानशालाओं के प्रबन्ध में मातृ-संस्था अपना दायित्व पूर्ववत् निभाती रहेगी। ये सभी पूरक कार्य हैं।

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय का क्षेत्र जैन-विद्या और अहिंसा के क्षेत्र में उच्च शिक्षा का है जिसमें अध्यापन, शोध, प्रशिक्षण और प्रसार-कार्य मुख्य हैं। इसलिये मातृ-संस्था ने विश्वविद्यालय के जिम्मे उच्च शिक्षा के सम्बर्द्धन और आवश्यक उपकरण, जैसे अनेकांत शोधपीठ (पुस्तकालय), शोध-प्रकाशन, अध्यात्म-नीडम् (जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान की प्रयोगशाला) के समस्त संसाधन एवं कार्यकर्त्ताओं को सौंप दिया। उनके भवन भले ही अभी मातृ-संस्था के स्वत्वाधिकार में हों लेकिन अनियतकाल के लिये उपयोग का अधिकार तो माता ने अपनी संतान को दिया ही है। यही नहीं, पारमाथिक शिक्षण संस्था को बहनों के लिये जो दिव्य “अमृतायन” भवन का निर्माण हुआ था मातृ-संस्था उसे अपने शिशु विश्वविद्यालय को उसमें रखकर अमृत-सुख का आनन्द दे रही है। मानो मां अपने नवजात शिशु को अपनी गोद में रखकर उसे छाती से लगाये हुए हो। जब विश्वविद्यालय के लिये स्वतंत्र परिसर के लिये तुरंत भूमि प्राप्त होने में कठिनाई दीखी तो मातृ-संस्था के एक समर्थ एवं युवा अधिकारी ने कहा कि क्यों न हम पुस्तकालय, कला-प्रदर्शनी, अध्यात्म नीडम् एवं अमृतायन के उपयोग के साथ उन भवनों को स्थायी रूप से विश्वविद्यालय को देकर चिन्तामुक्त हो जायं। समाज फिर नवीन एवं “नव-अमृतायन” का निर्माण कर लेगा।

वे भवन नहीं भी मिलें लेकिन भाव तो भवन से बड़ा है। इसी

प्रकार विश्वविद्यालय को सार्वभौम अहिंसा और जैनविद्या के जागतिक प्रचार-प्रसार का भी गुरु गंभीर भार लेना ही होगा, जिसमें अणुविभा आदि संस्थाओं का सहयोग अपेक्षित है। विगत वर्षों में जैन विश्वभारती एवं अणु-विभा के संयुक्त तत्वावधान में जो दो अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन हुए, उस दिशा में सुव्यवस्थित कार्य करना बाकी है। इसलिये विश्वविद्यालय ने अनेकांत इंटर-नेशनल नामक एक विदेश-सम्पर्क विभाग का भी गठन किया है। आगम-अध्ययन के अनन्त ज्ञान के प्रकाशन एवं अनुवाद के लिये “प्रकाशन एवं अनुवाद प्रभाग” भी बनाया जा चुका है। विश्वविद्यालय जैनविद्या को व्यापक एवं लोकप्रिय बनाने के लिये तीन माह का एक समेकित प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम भी चालू करेगा। जिसमें जीवन-विज्ञान के अध्ययन के साथ-साथ किसी एक उद्योग का शिक्षण, संस्कार निर्माण एवं समाज सेवा की तकनीक आदि सिखाने के प्रयत्न होंगे। इस दृष्टि से कम्प्यूटर केन्द्र में भी कम्प्यूटर पाठ्यक्रम चलाना अधिक उपयोगी होगा। अभी तो विश्वविद्यालय का श्री गणेश ही हुआ है। मात्र चार विभाग हैं। लेकिन यही इसका पूर्णविराम नहीं समझना चाहिये। विश्व में नये-नये ज्ञान-विज्ञान सामने आ रहे हैं। ऊर्जा का अपार संकट सामने है। अतः ऊर्जा के नये स्रोत के रूप में सौर-ऊर्जा की खोज राजस्थान के विशाल मरू प्रदेश में बड़ा अनुकूल एवं राष्ट्र उपयोगी होगा। फिर पर्यावरण शास्त्र भी आज का सबसे सार्थक एवं उपयोगी विज्ञान है। उसके अध्ययन एवं शोध के विषय में सोचना चाहिये। उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्र में “व्यापार-प्रबन्धन” का ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षक-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की तो आवश्यकता होगी ही। इस प्रकार जैन विश्वभारती के सामने अनन्त संभावनायें हैं और उसके लिये इसे समर्थ बनाना मातृ-संस्था का विशेष दायित्व है। माता शिशु को मात्र जन्म देकर असहाय छोड़ दे तो शिशु बच नहीं सकता। माता जिस प्रकार समर्थ होने तक अपने शिशु का प्राणपन से पालन-पोषण करती है और जब तक बचती है उसके लिये आर्शीवाद एवं शुभ्रैषणायें देती रहती है, उसी प्रकार मातृ-संस्था को भी विश्वविद्यालय-शिशु के लिये संकल्प करना होगा।

विश्वविद्यालय की मान्यता आचार्यश्री के विराट् व्यक्तित्व के प्रभाव से हुई है। वर्ना अभी तो विश्वविद्यालय का स्वरूप भी नहीं खड़ा हो पाया है। मातृ-संस्था का ही समस्त वैभव इसका वैभव माना गया और आचार्यश्री का इससे जुड़ाव इसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति। इसीलिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं भारत सरकार से इतनी जल्दी स्वीकृति मिल पायी।

यह न केवल तेरापन्थ समाज बल्कि सम्पूर्ण समाज के लिये एक अलभ्य एवं ऐतिहासिक सांस्कृतिक सुयोग है जिस पर भारतीय सांस्कृतिक मनीषा को

भी गर्व करना चाहिये। वैदिक एवं बौद्ध विद्यापीठ एवं विश्वविद्यालय के रूप में तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्दा आदि के उदाहरण तो हैं लेकिन किसी जैन विद्या के विश्वविद्यालय का यह प्रथम दर्शन है। अतः न केवल मातृ-संस्था को वरन् समस्त जैन समाज को इस सारस्वत यज्ञ में महान से महान त्याग का पुण्य लेना चाहिये। विश्वविद्यालय का परिसर ही जैन जीवन दृष्टि एवं जैन संस्कृति का दर्पण बने। इसके स्थापत्य में जैन जीवन दर्शन अंकित होवे। यही नहीं विश्वविद्यालय के प्रबन्धन, प्रकाशन, साज-सज्जा में हरगिज शान-शौकत या वैभव का वीभत्स प्रदर्शन न होने पावे, बल्कि वहाँ सरलता, अहिंसा और अपरिग्रह का पदार्थ पाठ मिले। अध्यापक एवं विद्यार्थियों को जैन होना ही अभीष्ट नहीं है लेकिन वे सब जैन विचार की जागतिक प्रासंगिकता एवं युग सार्थकता तो सीखकर अवश्य जाये। जैन विचार को मात्र एक साम्प्रदायिक विचार या किसी धर्म-संघ का विचार मानना अन्याय है। यह तो निखिल मानव जाति की शाश्वत धरोहर है। अहिंसा तो आज मानवता का भविष्य है। परिग्रह-भावना से अहिंसा की साधना हो नहीं सकती, और अपरिग्रह वीतरागता के अभ्यास के बिना सम्भव नहीं। सामयिकी और प्रतिक्रमण, व्रत और तप, निरामिष एवं दिवा-भोजन आदि मूल-धर्म की सहायिका हैं, लक्ष्य तो अनेकांत-अहिंसा के आदर्श और मोक्ष की साधना है। जैन विश्वविद्यालय इसी सत्य की साधना की यज्ञशाला है। सत्य न तो प्राची का होता है, न प्रतीची का। सत्य पर न भगवान् महावीर का एकाधिकार है न बुद्ध का। सत्य ही सच्चा अध्यात्म है जो अखंडित एवं अखंडनीय है। विद्या वही है जो सत्य का दर्शन करावे। विश्वविद्यालय वही है जो हमें क्षुद्रता और संकीर्णता से मुक्त करे—“सा विद्या या विमुक्तये”। “विज्जा चरणं पमोक्खो।” भगवान् महावीर स्वयं सम्बुद्ध थे—बुद्ध भी थे, सिद्ध और मुक्त भी।

परिशिष्ट

- अनुभववाद—२
 अज्ञेयवाद—२, ३
 अनन्त चतुष्टय—३, ७४
 अनन्त ज्ञान—३, ६०
 अनुमान—४, १०
 अर्द्धमागधी—७
 अभिधान राजेन्द्र कोष—७
 अकलंक—८, २०, २१, २८, ३२, ३३,
 ३४, ३५
 अभयदेव—८, ३४, ४५
 अमृतायन—१७७
 अनन्तवीर्य—९, ३२, ३४
 अलौकिक प्रत्यक्ष—९
 अष्टसहस्री—९
 अतीन्द्रियज्ञान—९, १२, १७, २०, ६७
 अविनाभाव—१०, १८
 अनुपलम्भ—१०, १२, १८
 अनेकान्त—१२, १९, ५३, १३०
 अनित्य—१३
 अनादि—१३, १७, ४४
 अन्योन्याश्रय दोष—१३
 अर्थापत्ति—१३, १४
 अनुपन्न—१३
 अभाव—१४, १५
 अशुचि—१७
 अनागत—१७, १८
 असत्—१७, १०४
 अर्हन्त—१७
 अनात्मवादी—२०
 अनुमेय—२०, २१
 अतिशय—२२
 अज्ञेय—३, २४
 अनुयोगसूत्र—२८
 अभयदेव—२८
 अन्वयव्यतिरेकी—३०
 अनेकवाद—६५
 अनार्य—६६, १२९
 अफलातू—५३, ६६
 अपराविद्या—६७
 अविद्या—५९, ६७, ६८
 अवधिज्ञान—६७, १३९
 अनुभवातीत—६७
 अन्तर्ज्ञान—६८
 अपौरुषेय—७२
 अदृष्ट—७३
 अशरीरी—७३
 अरिहन्त—७३
 अरिष्टनेमि—४७, ७४
 अनुकम्पावाद—७४
 अणुव्रत—७९, १६०
 अमुशास्ता—७९, १६३
 अनिवर्चनीय—५२
 अव्यभिचारी—३३
 असद्—३३
 अन्यथानुपपत्ति—३५
 अव्याप्त—३४

- अतिदयाप्त—३४
 अमर मुनि—३६
 अगस्त्य सिंह—३६
 अपूर्व—३७
 अनेकान्तिक—४२, ४२, ४४, ४५
 अगति—४४
 अवक्तव्य—४९
 अक्रियावादी—४९
 अव्याकृत—४९, ५०
 अनेकांतवाद—५०
 अकृतागम—५०
 अन्नतगुणात्मक—५४
 अविनाभावी—५५
 अमृतचन्द्र—५५
 अनवस्थादोष—५८
 अनवधारणात्मक—५८
 अनन्तदर्शन—६०
 अनन्त वीर्य—६०
 अनन्तमुख—६०
 अपरोक्षानुभूति—६१
 अमूर्त—६३, ९३
 अनुज्ञा—८१
 अपरिग्रह—८१
 अतिचार—८१
 अस्तेय—८२
 अनासक्ति—८४
 अहिंसा—९३
 अप्रमाद—९५
 अर्थशास्त्र—११३
 अनामय—११५
 अरबिन्द—११६, १४५
 अवतार—१३०
 अनन्तधर्मात्मक—१३७
 अन्तरात्मा—१५५
 आदर्शवाद—३
 आष्टे—६
 आत्मा—८, १५, १९, ४९
 आत्मज्ञ—८
 आगम—९, ४४
 आप्तमीमांसा—३१
 आस्तिक—७२
 आश्रव—८०
 आइन्स्टीन—४२
 आचारांग—५०, १३१
 आयारो—९२
 आभास—११३
 आनुवांशिक—११३
 आखेटयुग—११४
 आयकरोड—११९
 आदमस्मिथ—१२०
 आर्य—१२९
 आरण्यक—१२९
 आत्मोपम्य—१३१
 आर्थर जी मद्दान—१, ३
 इस्लाम—९७, १६४
 ईक्षणी विद्या—२१
 ईसाई—९७, १६४
 उपनिषद्—८, २६
 उद्योतकर—३४
 उच्छेदवाद—४८
 उपयोग—६२
 उपभोक्तावाद—८
 उपशांति—९४
 उपस्कर—१६५
 एकलक्षण—२९
 एकसरकार—९१

एकेन्द्रिय—११५
 एकवीनस—११६
 एस. एम. जैन—१२४
 ए. सिक्लेयर—३
 ऋजुसूत्र नय—१३३
 ऋत—१४१
 ऋषभदेव—४७
 ऋग्देव—२६
 कमलशील—२०
 कर्म-पुद्गल—१९
 कणाद—२९
 कर्म—१४६
 कर्मवाद—७२
 कथंचित्—५४
 कर्मबन्धन—६३
 कल्पयूथियस—९८
 कपिल—१६५
 कार्यकारणवाद—१३२
 कामतृष्णा—८५
 कार्ल जास्पर—९०
 कार्तिकेयानुप्रेक्षा—५५
 काम—४७
 क्रांति—७९
 क्रियावादी—४९
 कुमारिल—२०
 कृतप्रणाश—५०
 कुमारनन्दि—३२
 कुन्दकुन्द—६२, ६४
 कूटस्थ—६५, १३३
 क्रोसे—५३
 केन्द्रवाद—१४८
 केवल व्यतिरेकी—३०

केवलज्ञान—६७, १७, २२
 कौटिल्य—२७
 कटल—१३८
 क्लेयर लोयेंस—२३
 क्लेयर आडियेंस—२३
 गांधी—१५७
 गवाक्ष—२, २४
 ग्रंथि—१६३
 गंगानाल—५६
 ग्रेशम—११३
 गुस्ताव वेजल—१
 गुणस्थान—४४
 गौतम—२९
 चतुःसत्य—४९
 चतुर्दशपूर्व—१३१
 चातुर्मास—३७
 चेतना—६२
 चतुर्लक्षण—३०
 चैतन्यस्वरूप—६२
 चक्रक दोष—१२
 चित्त—११
 चार्ल्स—९
 चतुष्टय—१९
 चारूकीर्ति—३४
 चूर्णि—३७
 जी. एम. तीरल—९
 जैमिनि—१९
 जीव—२०, ६८, ४४, ६०, ९८, ११५
 जयन्तभट्ट—३०, ३१
 जीवात्मा—६५
 जेम्स—६६
 जैकोबि—६८

- जिन—७४
 जयंत—३४
 जैन-न्याय—९
 जी. वी. राईन—९
 जगदीश काश्यप—३८
 जड़—४४
 जयराशि भट्ट—५६
 जीववाद—६४
 जागृतावस्था—६४
 जकात—८३
 जयप्रकाश—८३
 जे० कृष्णमूर्ति—९०
 जे. सी. कुमारप्पा—१०२
 जेनेसिस—११६
 जनपद—१२९
 जरासंध—१३०
 जेम्सजीन्स—१४१
 जिनभद्रगणी—१३१
 जनतंत्र—१४६
 त्रिकाल—१९
 त्रिलक्षण—२९, ३०, ३१ १३६
 त्रिलक्षणकदर्थन—३२
 त्रैरूप्य—३३, ३५
 त्रिपिटक—३८
 त्रयात्मक—५८
 त्रिरत्न—६०
 त्रिमूर्ति—१३०
 त्रयी—१६५
 ज्ञान—१
 ज्ञेय—७, ६२
 ज्ञानावरणीय—२०
 ज्ञानमीमांसा—२५
 ज्ञाता—६२
 तत्त्वज्ञान—२
 तंत्र—९
 तर्क—९
 तत्त्वार्थसूत्र—२८
 तीर्थंकर—७३
 तेरापंथ—३६
 तुलसी—३६
 तीर्थ—४७
 तमिस्रा—६०
 ताओ—९७
 तस्कर समाज—१०२
 तिरुकुरल—११६
 तक्षशिला—१६६
 तथागत—५०
 दलसुख मालवणिया—३६
 देवसूरि—३४
 द्वन्द्वात्मक—२
 दृश्यमान्—३
 दशावयव—२८
 दिङ्नाग—३०, ४५
 दृष्टिवाद—६५
 द्वेष—८०
 देवद्विगणी—३६, ३७
 द्वन्द्वदृष्टि—४७
 द्रव्य—६२
 द्रव्यसंग्रह—६४
 द्विन्द्रिय—११५
 द्वादशांगी—१३१
 द्वैताद्वैत—१३४
 देकार्त—१४५
 धर्मभूषण—९, २०, २८

धर्मकीर्ति—३०, ३१, ३२
 ध्रौव्य—५६
 धर्मतीर्थकर—१३०
 न्याय—९
 न्यायकुमुदचंद्र—९
 निवृत्ति—१०
 निर्विशेषण—१०
 नित्य—१३
 न्यायविनिश्चय—२०, २८
 न्यायदीपिका—२०
 निर्वाध—२३
 निरपेक्ष—२३
 न्यायसूत्र—२६
 न्यायकोश—२६
 न्यायावतार—२८
 निरपेक्ष—६९, ५५
 नास्तिक—७२
 निर्जरा—७४, १३२
 नथमल—३६
 नैरात्मवाद—५०
 नय—५१
 नयवाद—५३, १३५
 निर्विशेष—६२
 निष्काम कर्म—८५
 नीतिधर्म—९१
 नित्य—१००
 निगोद—११५
 निःश्रेयस—१३०, १६८
 निग्रन्थ—१३१
 नील्स बोर—१४०
 निराकार—१४२
 नारद—१४३
 नचिकेता—१४३

नेहरू—१४४
 न्यूटन—१४५
 नियम का राज्य—१४९
 नालन्दा—१६६
 निवर्तक—१६८
 पिपासा—१
 परोक्ष—३
 प्रत्यक्ष—३
 प्रमाणशास्त्र—३
 पाणि नि—६, ४४
 प्राकृत महाकोष—७
 पर्याय—७
 परिज्ञान—७
 प्रमेय—७
 पैगाम्बर—७, २३
 पुराण—८
 प्रज्ञाकरगुप्त—८
 पूज्यपाद—८, २८
 प्रभाचंद्र—९
 पत्तजलि—९, २३
 परामनोविद्या—९, २३, १३९
 प्रमेयकमलमार्तण्ड—९
 प्रादेशिक ज्ञान—१०
 पुरुष—१२
 प्राग्भाव—१४, १५
 प्रध्वंसाभाव—१४, १५
 पर्युदास—१५
 प्रभाचंद्र—२१, २८
 प्राज्ञ—२४
 पराविद्या—२६
 प्रगल्भ—३०
 पंचलक्षण—३०, ३१
 पात्रस्वामी—३२

पारमार्थिक सत्य—६५
 प्रत्यगात्मा—६५
 प्रातिभासिकज्ञान—६७
 पंच तत्व—७३
 पंच परमेष्ठि—७३
 परिग्रह—८०, ८२
 प्राणातिपात—८०
 पात्रकेसरी—३३
 प्रभाचंद—३४, ४५
 पूर्वाग्रह—४१, ४२
 प्रमाण—४१
 परमार्थ—४२
 प्रतिमास—४२
 परमाणु—४४, ९३, १४०
 पुद्गल—४४
 प्रतीत्यसमुत्पाद—४८
 परमतत्व—४९
 पर्याय—५०
 परमाणुवाद—५३
 पुरुषार्थ सिद्धयुपाय—५५
 प्रमाणवार्तिक—५६
 प्रकृत दूषण—५६
 प्रकृति—६८, १३३
 परमसत्ता—६२
 पंचकोश—६३, ९८
 परमेश्वर—८२
 पापकर्म—९४
 परार्थवाद—१०१
 पराश्रयी—१०२
 प्लेटो—१०४
 पोष पाल—१११
 पंचशील—११६

पैथा गोरस—११७
 पेड़ो अचा—१२४
 पीर—१२९
 प्रतिहार—१२९
 पंच यतन—१३०
 परमात्मा—१३३
 प्रजापति—१३४
 प्रोटोगोरस—१३८
 प्रोटोप्लाज्म—१३९
 प्रह्लाद—१४२
 परममूल्य—१४७
 पुराण—१५७
 फणिभूषण अधिकारी—५६
 बोधिसत्व—११६
 बोधिचित्त—११६
 बुद्धिवाद—१
 बुभुक्षा—१
 बी. एम. बरुआ—२
 ब्रह्म—२३, ४९, ११३
 ब्रेडले—४८, १०३
 ब्रह्मसूत्र—५५
 बिनोवा—८३
 बाइबिल—८३
 ब्रह्मविद्या—११३
 बी. एन. पटवर्धन—११९
 बनाडंशा—१२६
 बहुदेववाद—१३०
 ब्राह्मण—१३१
 बहिरात्मा—१३३
 बहुत्ववाद—१३३
 बादरायण—१३४
 बर्टेन्ड रसेल—१४१

बहुस्पर्धावाद—१५०
 ब्रह्मचर्य—१६०
 भद्रबाहु—२८, ३६, ३७
 भगवती सूत्र—२७, २८, ५०
 भागीरथ—३६
 भाष्य—३६, ३८
 भूतदया—१२२
 भवतृष्णा—८५
 भेद—१२९
 भीम—१३०
 भामाशाह—१६०
 भ्रातृत्व—१६४
 महाव्रत—१६०
 महावीर—१५७
 मूर्च्छा—१५८, ८१, ८०
 मैक्सबीर्न—१४०
 मायावाद—१३४
 महाभारत—१३१
 मनुस्मृति—११६, २७
 मेरी बेव—११८
 मानव धर्म—९१
 मार्क्स—९९
 मैकडूगल—१०२
 महेशयोगी—१११
 मोक्ष—५९, ४७
 माया—५९
 मति—६७
 मनःपर्यय—६७
 मोह—६९
 महाप्रज्ञ—७९
 ममत्व—८०
 मैथुन—८०

माणिक्यनन्दि—३४
 मथुरा—३७
 मार्गणा—४४
 मज्झिमनिकाय—५०
 मनु—१४
 मद्यपि—१७
 मतिज्ञान—२२
 मल्लवादी—२३
 मोनाइर विलियम्स—६
 मानुषी—७
 मानवेतर—७
 महाभारत—८
 माणिक्यनन्दि—९
 मल्लिसेन—९
 टीचनर—९
 टेलीपैथी—२३
 टीका—३६
 टाल्स्टाय—८७, ११८
 ट्रस्टीशिप—८८, १६०
 टेन्सल—१०२
 टाइफाइड—१२०
 टैक्सिक—१२५
 टिलहार्ड—१३८
 टेरिल—१३९
 टालोमी—१४२
 डा. प्रकाश—१६४
 डीन इंग—११८
 ड्रेमर—१०२
 डेलरेपी—१४२
 डा. राजेन्द्रप्रसाद—१४४
 डा. राजू—६९
 डाइसन—६७
 तेरापंथी—१७७

- यशोविजय—९, १३, २२, २८, ३४, ४५
 योगाचार—१७
 योग-बिन्दु—२०
 योग-सूत्र—२१, २२
 युवाचार्य—७९, ३७, १६७
 युग—१३८
 युक्त्यानुशासन—४७
 यम—८२
 यहूदी—९७
 यूनानी दर्शन—९८
 यंत्रवाद—१४८
 राजभाषा—१६०
 राइन—१३९
 रेडियोधर्मिता—१३९
 रेनर जानसन—१३९
 रामानुज—१३४
 राबर्ट इंगरशोल—११७
 राज गोपालाचारी—११७
 राहुल—१०९
 रजनीश—१११
 रमणमहर्षि—११६
 राधाकृष्णन्—५६
 रौथ—३६
 राग—८०
 राग-द्वेष—१६
 रथ्याप्रभ—१२
 रामायण—८
 लाड. एल. टी.—२
 लघीयस्त्रय—२८
 लोकतंत्र—७९, १४६
 लोकायत—४१, १६६
 लोकसंवृति—४२
 लोक—४४, ९३
 लैक्टिक अम्ल—१२५
 लेनिन—१३९, १४५
 लाइफ-डिवाइन—१४०
 लोकशाही—१४७
 लाडनू—१४७
 वैष्णव—१६०
 विक्रमशिला—१६६, १७९
 वेदव्यास—१५७
 व्यवहार धर्म—१५०
 वर्ण—१४८
 व्हाइटहेड—१४०
 वदतोव्याघात—१४२
 वैभाषिक—१३३
 विज्ञानवाद—१३३
 विभज्यवाद—१३५, ४४, ५०
 विष्वेदेवा—१३०
 विन वुडरीड—११८
 वर्बे बेकर—१२२
 विशिष्टाद्वैत—११५
 विभाव—१००
 विश्वधर्म—९१
 विश्वसरकार—९१
 विवेक—९४
 विभवतृष्णा—८५
 विज्ञान—६२
 व्यष्टिगत अज्ञान—५९
 व्योमशिव—५७
 वर्गणा—४४
 विद्यानंद—४५, ३५, ९
 वसुबन्धु—४५
 व्यवहार—४२
 वाचस्पति—३४
 वादिराज—३४, ३१

- वादिमसिंह—३४
 वीतरागता—१७८
 वैष्णव—७४
 वर्गसां—६६
 वात्सायन—२८, २९
 वीतराग—१८
 वेद—१९
 व्यामोह—१४
 व्यतिरेक—१२
 वक्तृत्व—१०
 विरूकविधि—१०
 वेस्ट—९
 वादिदेवसिंहसूरि—९
 विश्ववित्—८
 विश्ववेदस्—८
 वाचस्पत्यम्—६
 विशेषणवादी—३
 वास्तववाद—३
 शब्द कल्पद्रुम—५
 शांतरक्षित—८, २०, ३२, ४५
 शंकर मिश्र—३०
 शीतीभूत—८०
 शंकराचार्य—४३, १११, ११३
 शाश्वतवाद—४९, १३५
 शाश्वत—६३
 शून्यवाद—१३३, १४५
 संस्कृतकोश—६
 सर्ववित्—८
 स्मृति—८
 सकलदेशवर्तीज्ञान—१०
 सविशेषण—१०
 सकल—११
 सुषुप्त—१८
- समन्तभद्र—२०
 सुखलाल—२१, ३६
 सृष्टि—२३
 सम्राहकता—२४
 संशयवाद—२४
 स्थानांगसूत्र—२७, २८
 समन्तभद्र—२७, २८, ३१
 सिद्धसेन दिवाकर—२८, ३२
 सापेक्षवाद—६५
 स्पीनोजा—६६
 सहकारी कारण—७३
 सिद्ध—७४
 संवर—७४, १३२
 सम्प्रदाय—७९
 स्कंदिल—३७
 सत्ता—१
 सावद्ययोग—४२
 स्याद्वाद—४२, ४९, ५५, १३०
 स्कंध—४४
 सर्वोदय—४७, ५४
 सूत्रकृतांग—५०
 संयुक्त निकाय—५०
 सान्त—५०, १३२
 सप्तभंगी—५१, ५३
 सत्कार्यवाद—५२
 सुकरात—५३
 स्वलक्षण—५६
 संशयदोष—५८
 सर्वोदयतीर्थ—५८
 समन्वय तीर्थ—५८
 समष्टिगत—५९
 सम्यक्ज्ञान—६०, ९५
 संशयात्मा—६१

- स्वसमय — ६२
 समय — ६२
 सर्ववादी — ६३
 समविभाग — ८४
 समवितरण — ८४
 समग्रदृष्टि — ९०
 साम्प्रदायिक धर्म — ९१
 साम्यवाद — ९१
 सम्यक् चारित्र — ९५
 सम्यक् दर्शन — ९५
 सोफिस्ट — ९८
 समूह-प्रवृत्ति — १०२
 सेवायुग — १०२
 सक्रिय प्रेम — १०३
 सुकरात — १०३, ११९, १६३
 सत् — १०४, ११३
 संप्रलाप — १०४
 स्वामीरंगनाथानन्द — ११३
 मुजयेन्द्रतीर्थ — ११४
 संत तिरुवल्लुवर — ११६
 सालोनेला — १२५
 साम — १२९
 सादि — १३२
 सत्यलक्षी — १३३
 सौत्रान्तिक — १३३
 संप्रत्यय — १४०
 सीरिल — १४०
 सनत्कुमार — १४३
 हिंसावाद — १४८
 समन्वय — १४९
 संप्रभुता — १५१
 समता — १५२
 संकुलयुद्ध — १५३, १५४
 सत्याग्रह — १५५
 साध्वी — १५६
 सगुण — १६४
 श्रुति — ३
 श्रमण — ८०, १३१, १६६
 श्रुतकेवली — ३७
 हेमचन्द्र — ९, २१, २८, ३४, ४५
 हेतुदृष्ट — २७
 हेत्वाभास — ३०, ३१
 हीगेल — ६६, ४७
 हरिभद्र — ४५, १६३
 हिराक्लिटस — ९९
 हारमोन — १२५
 हक्सले — १३८
 हाईजनवर्ग — १३९
 हिरीशेलवुड — १४०
 हिंसावाद — १४८
 हिन्दुत्व — १६४

